संसारमें रहनेकी विद्या

जो बातें सत्सङ्ग एवं धार्मिक पुस्तकोंसे हमें मिलती हैं, उनके अनुसार हमारा जीवन बन जाय तो बहुत शीघ्र तत्त्व-साक्षात्कार या भगवत्प्रेम-रूप चरम लक्ष्य प्राप्त हो जाय, क्योंकि नित्य-प्राप्तको ही प्राप्त करना है।

प्रधान बात है—संसारमें रहना। इसकी भी एक विद्या है, यह विद्या कठिन नहीं है। हमारा पक्का निश्चय होनेपर इस विद्याको बड़ी सुगमतासे समझा जा सकता है।

विद्याके अधिकारी

जिज्ञासायुक्त मनुष्यमात्र इस विद्याके अधिकारी हैं। पापी हो या पुण्यात्मा, सुखी हो या दुःखी, धनवान् हो या निर्धन, विद्वान् हो या सर्वथा मूर्ख, पदपर नियुक्त हो अथवा पदहीन—सभी समान-रूपसे इसके अधिकारी हैं। इस विद्या-का जिज्ञासु शास्त्रनिषिद्ध आचरण तो करेगा ही नहीं, क्योंकि उसे संसारमें रहना, सीखना और अपने चरम-लक्ष्यकी पूर्ति (भगवत्प्राप्ति) करना है।

विद्याका स्वरूप

हमें स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्यागकर दूसरोंकी प्रसन्नता और हितकी भावनासे कार्य करना चाहिये, अपने

अभिमानको सुरक्षित रखने या स्वार्थभावको पुष्ट करनेके लिये नहीं। जैसे माता-पिताके प्रति सुपुत्रका जो कर्तव्य हो, वैसा ही आचरण हमको करना चाहिये। 'मैं माता-पिताकी सेवा और आज्ञा-पालनके लिये पुत्र हूँ, न कि माता-पितासे कुछ लेनेके लिये'—यह भाव रहना चाहिये। सेवाके बदले लौकिक पदार्थ आदि कुछ भी लेनेकी आशा नहीं रखनी चाहिये। माता-पिता हमसे लाड-प्यार न करके छोटे या बड़े भाई-बहनोंसे प्यार करें अथवा उन्हें कुछ भी दें, इसके लिये माता-पिताको स्वतन्त्रता देनी चाहिये और अपने मनमें प्रसन्न होना चाहिये। सेवा करनेपर माता-पिता हमें कुछ भी न दें तो यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिये कि 'हमारी सेवा सुरक्षित रह गयी। यदि माता-पिताके कुछ भी देनेपर ले लेता तो सेवाका मूल्य घट जाता।' एकान्तमें माता-पितासे कह भी सकते हैं कि 'माँ और पिताजी! मुझसे तो आप सेवा ले लें। आपके पास जो कुछ भी है, वह आपकी इच्छा हो तो उसको किसी औरको देनेमें और दान-पुण्य करनेमें किंचिन्मात्र भी संकोच न करें। मुझे केवल सेवा और आज्ञापालनका अधिकार है, न कि आपसे कुछ लेनेका। आपने इतना अधिक दिया है कि संसारमें कोई उतना दे ही नहीं सकता, फिर मैं और क्या चाहूँ?'

इसी प्रकार माता-पिताको यह मानना चाहिये कि पुत्रको सुयोग्य बनाने, अच्छी शिक्षा देने तथा सब प्रकारसे उसका हित करनेके लिये हम माता-पिता हैं। स्वार्थ, अभिमान,

आसक्ति और आशाका सर्वथा त्याग कर जिस प्रकारसे पुत्रका जीवन सुखमय और लोक-परलोक हितकर बने, हमें वही कार्य करना है। प्रतिफलमें पुत्रसे कुछ भी चाहना नहीं है। बिना चाहे भी यदि पुत्र सुख पहुँचाये तो प्रसन्न नहीं होना चाहिये और विपरीत चले तो मन-ही-मन प्रसन्न होना चाहिये कि हमें इससे दोहरा लाभ हुआ। प्रथम हमारे कर्तव्यका पालन हो गया और पुत्रके विपरीत चलनेसे हमारे पापोंका नाश हुआ। अगर कहीं पुत्र आज्ञामें चलता तो हम (माता-पिता) उसके ममता-प्रेममें फँस जाते। इसी युक्तिसे परिवारमें सबको एक दूसरेके प्रति व्यवहार करना चाहिये। जिसके साथ आपका सम्बन्ध जिस रूपमें हुआ है, उसकी तन, मन, धनसे शास्त्राज्ञानुसार सेवा करना ही अपना पवित्र उद्देश्य है; क्योंकि इनके साथ सदा तो रहना है नहीं, केवल सेवा करनेके लिये ही इनका साथ हुआ है, अर्थात् इस परिवारमें जन्म हुआ है।

भगवद्भावसे सेवा

साधकको यह भाव रखना चाहिये कि सबमें परमात्मा परिपूर्ण है। अपने कर्तव्य-कर्मोंद्वारा मैं उसी परमात्माकी सेवा कर रहा हूँ। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' प्राप्त कर्तव्य-कर्मद्वारा भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीखनेवाले एक प्रभुका पूजन हो, यही मनुष्य-जीवनकी सिद्धि है। जिनके साथ जैसा सम्बन्ध (माता-पिता, भाई-भाई, पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदिका) है, उनकी सेवारूप पूजा उसी (ऊपरके स्वांग) के अनुसार करनी चाहिये। किंतु यह जागर्ति बनी रहनी चाहिये कि 'इन्होंने मुझसे सेवा लेनेके लिये ही यह स्वरूप धारण किया है, वास्तवमें तो ये साक्षात् परमात्मा—मेरे इष्टदेव ही हैं।' सेवा अपनी शक्तिके अनुसार शास्त्रविहित एवं न्याययुक्त होनी चाहिये। अन्याययुक्त माँग हो तो दीनतायुक्त वचनोंसे अपराधीके समान क्षमा माँग लेनी चाहिये कि 'यह मेरी सामर्थ्यसे बाहरकी बात है, आप क्षमा कर दें।'

बेईमानीका त्याग

संसारमें रहनेके लिये जो भी सामग्री धन, जमीन, परिवार, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण इत्यादि हमें प्राप्त हुए हैं ये सब संसारके या सेव्यके ही प्राकृत पदार्थ हैं, अपने नहीं; क्योंकि शरीर भी संसारसे ही मिला है। इसी प्रकार योग्यता, विद्या, कला, कौशल और चतुराई यह सब भी संसारसे सीखी है। अतः मात्र सामग्री संसारकी है।

रसायनशास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय तो सब कुछ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशादि पञ्चतत्त्वोंसे निर्मित है।

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा ॥

(रामचरितमा० ४। १०। २)

इस समष्टि सृष्टिका एक अंश शरीर अपना कैसे हो सकता है? तत्त्वसे यह प्रकृतिका कार्यमात्र है। जब सब शरीरोंकी रचना प्रकृतिद्वारा हुई है, तब एक शरीरको अलग अपना मानकर अभिमान करना भूल ही है। शरीर ही नहीं, (इससे सम्बद्ध) कुछ कुटुम्बी-पदार्थ, कुछ घर-जमीन और कुछ रुपयोंको अपना मानना भी महान् भूल ही है। क्योंकि सब कुछ मिला हुआ है और 'मिला' अपना होता नहीं। इनको सेव्यके ही मानकर उनकी सेवामें लगा देना उचित है। हमें तो प्रत्युपकार अथवा कृतज्ञताकी आशा भी नहीं रखनी चाहिये। क्या अपने हाथोंसे अपना मुख धोनेपर प्रत्युपकार या कृतज्ञताकी माँग होती है? दूसरी बात, आशानुरूप फल मिल ही जाय, यह भी आवश्यक नहीं, तब फिर सेवाके बदलेमें कुछ भी चाहना कहाँतक उचित है? (अर्थात् सर्वथा अनुचित ही है।)

भक्तिमार्गके अनुसार संसार परमात्माद्वारा रचित है, अतः सब सामग्री भी उस रचयिता परमात्माकी ही है। परमात्माद्वारा उदारतापूर्वक प्रदत्त सामग्रीपर अहंता, ममता

करके अधिकार जमाना बेईमानी है। वास्तवमें सामग्री और आप स्वयं परमात्माके हैं, इसे ठीक ऐसा ही मान लें, फिर बन्धन नहीं होगा। इनको अपना और अपने लिये मानना ही बन्धन है। इस बेईमानीका त्याग करते ही मुक्ति है।

गतिशील संसार

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

(गीता २ । १८)

श्रीमद्भगवद्गीता मनुष्यमात्रके अनुभवकी बात कहती है कि प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति प्रतिक्षण विनाशकी ओर जा रहे हैं। यदि मनुष्य इस ओर ध्यान दे तो महान् लाभ हो सकता है। शिशुके जन्म लेनेके बादसे लोगोंकी यही दृष्टि रहती है कि यह बड़ा हो रहा है, परंतु गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो स्पष्टतः वह प्रतिक्षण छोटा ही होता जा रहा है। मान लीजिये कि किसीकी आयु सौ वर्षकी है और अबतक वह एक वर्षका हो चुका तो वास्तवमें अब वह निन्यानबे वर्षका ही है। आज किसी व्यक्तिका देहावसान हो जाता है तो हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति आज मर गया, पर वास्तवमें तो वह प्रतिक्षण मर रहा था, मरते-मरते आज उसका मरना पूरा हो गया—उसके देहका अवसान हो गया।

अभी हम सब लोग यहाँ सत्सङ्गमें आये हुए हैं। जबसे हमलोग अपने स्थानसे चले हैं, तबसे अबतक जो समय बीत गया, उतने कालतक हम सब मर चुके और अभी भी मर

रहे हैं, प्रतिक्षण आयु घट रही है। इस प्रकार एक दिन हमारा यह बोलना न बोलनेमें, सुनना न सुननेमें, रहना न रहनेमें एवं जीवित रहना मरनेमें अवश्य बदल जायगा। इसे कोई बड़ा-से-बड़ा वैज्ञानिक भी नहीं रोक सकता। हम लोगोंकी आजतककी अवस्थाएँ—बालकपन, जवानी एवं स्वास्थ्य आदि जो चली गयीं, क्या वे हमें अब वापस मिलेंगी ? कदापि नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण विनाशकी ओर जा रही है। कोई भी ऐसी वस्तु दिखायी नहीं देती, जो स्थिर हो। संत कबीरजीके शब्द हैं—

कहा माँगूँ कछु थिर न रहाई।
देखत नैण चल्यौ जग जाई॥'

यह जो कुछ दीखता है, जितना दीखता है, सब प्रतिक्षण बह रहा है—नष्ट हो रहा है। इस जगत्में केवल 'जाना' मात्र ही सत्य है, अन्य कुछ नहीं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

'देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथ नाहीं॥'

(मानस २।९१।४)

जो संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उसकी आशा रखना मूर्खता नहीं तो और क्या है ? फिर भी हम नयी-नयी आशाएँ रखते हैं। क्या आशा रखनेसे इच्छित वस्तुएँ एवं परिस्थितियाँ प्राप्त हो जायँगी ? और यदि प्राप्त हो भी

गयीं तो क्या स्थिर रह सकेंगी ? यह असम्भव है; क्योंकि स्थिर रहनेका तो उनका स्वभाव ही नहीं है। थोड़ा विचार करें, यदि हमारी वर्तमान परिस्थिति नहीं बदलेगी तो नयी कैसे मिल सकेगी ? नयी मिलनेका अर्थ ही है—वर्तमान परिस्थितिका विनाश होना। अतः जिस प्रकार यह नष्ट हो गयी, उसी प्रकार नयी परिस्थितिका भी विनाश अनिवार्य है। इसलिये जो मनुष्य सांसारिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिरता अथवा प्राप्तिकी आशा लगाये रहते हैं, उन लोगोंके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

(गीता ९। १२)

'उनकी आशा, उनके कर्म एवं उनका ज्ञान—सब निष्फल है।'

प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली वस्तुओंकी आशा कैसी ? संसारकी आशा ही परम दुःख और इससे निराश हो जाना ही परम सुख है—

'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।'

(श्रीमद्भा० ११। ८। ४४)

जो संसार देखते-देखते ही नष्ट हो रहा है, उसकी ओरसे दृष्टि हटाकर जो रह रहा है और नित्य है, उस परमात्मतत्त्वकी ओर देखना ही यथार्थ दृष्टि है। विचार करना चाहिये, जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, वह टिकेगा कैसे ? ये

शरीर, परिस्थिति, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदि क्या सदा रह सकेंगे ? मनुष्य इनके रहनेकी ही नहीं, अपितु अधिकाधिक मिलनेकी भी आशा लगाये रहता है, परंतु जो एक क्षण भी स्थिर नहीं रहतीं, वे क्या मिलेंगी और क्या स्थिर रहेंगी ? यदि मनुष्य इस सत्यकी ओर ध्यान दे तो सचमुच कृतकृत्य हो जाय। बस, एक बार इसे ठीक-ठीक समझ लिया जाय तो यह स्वतः ही सब समय दिखायी देने लगेगा—स्मृति-पटलपर निरन्तर अङ्कित रहेगा।

सूर्य उदय होता है तो उसका अस्त होना भी निश्चित है, इसमें किसीको किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है; किंतु सूर्यास्त होने पर क्या हमें दुःख होता है ? यद्यपि अँधेरा होनेपर हमारे दैनिक कार्योंमें बाधा आती है, तथापि हमें दुःख या जलन नहीं होती। इसमें मूल कारण हमारी यह धारणा ही तो है कि जब सूर्य उदय हुआ है तो वह अस्त भी अवश्य ही होगा। ठीक इसी प्रकार संसारकी वस्तुएँ अविराम अस्तकी ओर जा रही हैं, ,यदि हम इस सत्यको स्वीकार कर लें—सचाईसे मान लें तो फिर प्रिय-से-प्रिय वस्तुके वियोगमें भी हमें दुःख नहीं होगा।

भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुनको इसी अनित्यताके विषयमें समझाते हुए कहते हैं—

‘आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥’

(गीता ५। २२)

‘ये सभी पदार्थ आदि-अन्तवाले हैं, अनित्य हैं, अनवरत

विनाशकी ओर तेजीसे गतिशील हैं, इनमें बुद्धिमान्–विवेकी पुरुष नहीं रमता।'

'दिन दिन छाँडचा जात है तासों किसा सनेह।'

जो क्षणमात्र भी ठहरते नहीं, उनसे प्रेम कैसे करें। इनके जानेमें कुछ भी समय नहीं लगता, तब इनसे प्रीति कैसे निभेगी ? ये कुछ देर ठहरें, तब तो प्रीति हो !

हम आशा रखते हैं इस संसारकी, जो वस्तुतः है ही नहीं और निराश रहते हैं उन परमात्मासे, जो नित्य और अविनाशी हैं—यही महान् भूल है। थोड़ा विचार करें—संसारकी आशासे क्या मिलेगा ? इससे आयु तो व्यर्थ नष्ट हो जायगी और मिलेगा केवल धोखा, परंतु दूसरी ओर यदि परमात्माकी आशा करें तो अवश्य ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होगी; क्योंकि वे नित्य और अविनाशी हैं। संसारकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, नितान्त असम्भव है। भला, कहीं मृग-मरीचिकासे जलकी प्राप्ति सम्भव है ? जो एक क्षण भी स्थिर नहीं, उसकी प्राप्ति कैसी ? अतः आशा केवल परमात्माकी ही रखनी चाहिये। यदि स्थिरचित्त होकर विचार करें तो वे परमात्मा सबको, सब समय, स्वतः ही प्राप्त हैं। हमने अप्राप्त संसारको प्राप्त मान लिया है, इसलिये हमें नित्य-प्राप्त परमात्मामें अप्राप्तिका भ्रम हो गया है। यह अटल सिद्धान्त है, ठीक ज्यों-का-त्यों इसे देखना है, इसके लिये कोई नया ज्ञान अथवा अनुसन्धान नहीं करना है। इसमें

क्या बाधा है ? थोड़ी गम्भीरतासे विचार करें तो पता लग जायगा कि यह कितनी सरल बात है।

इसे एक दृष्टान्तद्वारा समझिये—गङ्गातटसे थोड़ी ही दूर मार्गकी एक प्याऊपर एक परोपकारी व्यक्ति यात्रियोंको जल पिला रहा है। लोग चलते-चलते रुककर जल पीते हैं, तदनन्तर फिर चलने लगते हैं। वह व्यक्ति प्रत्येकको जल पिलाता है, उसका किसीके साथ न पहलेसे सम्बन्ध है और न जल पिलानेके बाद ही और न वह किसीसे कुछ आशा ही रखता है, उसे तो जल पिलानेमात्रसे ही प्रयोजन है। उपर्युक्त दृष्टान्त मनुष्यमात्रके कर्तव्यका दिग्दर्शन कराता है। संसारके जीवमात्र ही यात्री हैं और हमलोग जल पिलानेवालेकी तरह हैं। हमलोगोंके पास तन, मन, धन, विद्या, बुद्धि, पद एवं अधिकार आदि जो कुछ भी है, वह जल है, जो प्रतिक्षण बहता है, जिसका धर्म ही बहना है। हमलोगोंका तो यही कर्तव्य है कि इस जलको रात-दिन बहनेवाले संसारकी सेवामें लगा दें। इन बहती हुई वस्तुओंसे अविरत बहनेवाले संसारकी सेवा कर देना ही तो कर्मयोग है। राजस्थानी भाषामें एक कहावत है—

'बाई रा फूल बाई रे ही चढ़ा देवे।'

आशय यह है कि जो वस्तु जिसके निमित्त है, वह उसीको अर्पित कर दी गयी। इस प्रकार संसारकी बहती हुई वस्तुओंको बहते हुए जीवोंकी सेवामें लगा देनेसे जो नित्य,

अविनाशी तत्त्व है, वह स्वाभाविक ही बच रहेगा; क्योंकि उसका विनाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है—

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

(गीता २ । १७)

घरका हो अथवा बाहरका, बूढ़ा हो या जवान, छोटा हो या बड़ा, स्वस्थ हो या अस्वस्थ, अभी जन्मा हो या मृत्यु-शय्यापर पड़ा हो—कोई भी क्यों न हो, हमारा उद्देश्य तो केवल उसकी सेवा करना है, उससे कुछ लेना नहीं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

(गीता २ । ४७)

हमारा कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गीता ५ । १२)

फलमें आसक्त हुए कि बन्धनमें पड़े । इसलिये यही बात युक्तिसंगत है कि कर्म तो करो, किंतु फलकी आशा मत करो । श्रीगोस्वामीजीने तो दूसरी आशा और भरोसेको ही जडता बताया है—

यह बिनती रघुबीर गुसाँई ।
और आस-बिस्वास-भरोसो हरो जीव जड़ताई ॥

(विनयप० १०३)

विचार करनेसे जडता स्पष्ट दिखायी देती है और यह

नियम है कि जब वह स्पष्ट रूपसे दीखने लगती है तो टिक नहीं सकती; क्योंकि जब वह है ही असत्य तो टिकेगी कैसे ?

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।'

(गीता २ । १६)

यदि आज इस बातको समझ लिया जाय कि संसारमें तो केवल जाना-ही-जाना है—**'सम्यग् रीत्या सरतीति संसारः'**, इसमें सत्य है तो केवल सदा ही है तो यह धारणा सदाके लिये स्थिर हो जायगी। इसके लिये कोई नयी बात याद नहीं करनी है, कोई नया विचार नहीं करना है, केवल इस प्रत्यक्ष एवं संदेहरहित तथ्यको स्वीकारमात्र कर लेना है।

■

सत् और असत्

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'।
(गीता २। १६)

श्रीमद्भगवद्गीताके इस वचनानुसार असत्की सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं होता। दोनोंका निष्कर्ष तत्त्व-दर्शी महापुरुषोंने निकाला है। उन्होंने इसका अनुभव किया है। जिस तत्त्वको तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने देखा है, वही वास्त-विक तत्त्व है। जिस वास्तविकताका विनाश अथवा अभाव नहीं होता. उस वास्तविकताका अनुभव सबको हो सकता है। वास्तविकता सदा-सर्वदा रहती है। उसमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं आती। केवल हमारा लक्ष्य उधर न होनेसे ही वह वास्तविक तत्त्व अप्राप्तकी तरह हो रहा है।

विचार करनेपर हमें दीखता है कि संसार बदलता है। मनके भाव और इन्द्रियाँ बदलती रहती हैं। जितना भी मन-बुद्धिसे समझमें आता है, वह सब बदलनेवाला है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, इसमें किसीको कभी किंचिन्मात्र संदेह नहीं है। बड़े-से-बड़े विद्वान्, वैज्ञानिक, दार्शनिक और ऊँचे-से-ऊँचे विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकते कि जितनी वस्तुएँ जानने-

में आती हैं, वे सब बदलती नहीं हैं। जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ बदलती ही हैं, पर उन्हें जाननेवाला नहीं बदलता। अगर जाननेवाला ही बदलता हो तो बदलनेवालेको कौन और कैसे जानेगा ? इससे सिद्ध होता है कि जाननेवाला बदलता नहीं। वह वास्तविक तत्त्व नित्य, सदा सर्वत्र और सबका है, उसीको परमात्मा कहते हैं।

परमात्मापर तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंका जितना अधिकार है, उतना ही अधिकार साधारण-से-साधारण पुरुष-का भी है। महापुरुष 'तत्त्वज्ञ' और साधारण व्यक्ति 'तुच्छ' क्यों कहलाते है ? महापुरुषोंने तत्त्वकी ओर ध्यान दिया है, इसलिये वे तत्त्वज्ञ कहलाते हैं। साधारण व्यक्ति सत्-तत्त्वसे विमुख होनेसे अपनेको पतित मानने लग जाते हैं। यदि वे भी सन्मुख हो जायँ तो अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥
(मानस ५।४३।१)

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये निराश होना भी एक प्रकारसे महान् अपराध है और वह भी भगवान्‌के प्रति है, क्योंकि भगवान्‌ने कृपाकर मानव-शरीर उस परम तत्त्वको जाननेके लिये ही दिया है, किंतु मनुष्य बिना विचारे ही संसारमें फँस गया। इस बातसे दयालु भगवान्‌को भी तरस आता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें वे कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
(१६ । १९)

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों-को मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ।' और—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
(गीता १६ । २०)

'हे अर्जुन ! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर ही जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी नीच गतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।'

भगवान् आश्चर्य व्यक्त करते हैं—

'अहो ! ये लोग अबतक मुझे प्राप्त नहीं कर सके और अधम गतिको प्राप्त कर रहे हैं ।' भगवान्‌को प्राप्त न करना महती हानि है । (जिसका फल भोगना पड़ता है ।) श्रुति कहती है—

परमात्मतत्त्वको जाने बिना अन्य काम करना आत्मघात है । आत्मघाती महापापी होता है । उपनिषदोंमें कहा गया है—

'ये के चात्महनो जनाः' (ईशोप० ३)

'आत्महत्यारे अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।'

इस तत्त्वको सबसे पहले जानना चाहिये। क्योंकि मानव-जीवनका सबसे प्रथम लक्ष्य यही है।

मनुष्य-शरीरके प्राप्त करनेका उद्देश्य संग्रह और भोग है ही नहीं—

'एहि तन कर फल बिषय न भाई'

(मानस ७ । ४३ । १)

इस तत्त्वको जाने बिना यदि मानव-शरीर चला गया तो महान् हानि है। उस हानिकी पूर्ति किसी रीतिसे कभी होनेवाली नहीं है और परमात्माको छोड़कर किसी-न-किसी-का आश्रय लेते ही रहना पड़ेगा, अर्थात् सदा ही परतन्त्रता भोगनी पड़ेगी। इसीलिये समझदार व्यक्तिको चाहिये कि आज ही उस तत्त्वको समझनेके लिये तैयार हो जाय। उत्कट जिज्ञासा होनेपर इसे आज ही प्राप्त किया जा सकता है। भगवान्‌की घोषणा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

(गीता ४ । ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्र-से भलीभाँति तर जायगा।'

संसारमें जितने भी पापी हैं, वे तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। एक तो पापकृत् (पापी), दूसरे पाप-कृत्तर (पापियोंमें बड़े पापी) और तीसरे **पापकृत्तम** (संपूर्ण

पापियोंमें भी सबसे बड़े पापी)। महान्-से-महान् पापी भी क्यों न हो, ज्ञानरूपी नौकामें बैठकर शीघ्र ही पाप-समुद्रसे तर जाते हैं।

अपना कौन है ?

सामग्री, सामर्थ्य, समय और समझ—ये चारों हमें मिले हैं, केवल सदुपयोग करनेके लिये। इन्हें अपने या अपने लिये मानना इनका दुरुपयोग करना है।

वर्णाश्रम, योग्यता एवं शास्त्राज्ञाके अनुसार हम जो कुछ भी आचरण करते हैं उसमें परिवर्तनकी नहीं, केवल परि-मार्जनकी आवश्यकता है। जिन्हें हम अपना या अपने लिये मानते हैं उनको थोड़ा भी परिवर्तित कर देना हमारे हाथकी बात नहीं। इन पदार्थोंको हम साथ लाये नहीं, साथ ले जा सकते नहीं, मनके अनुकूल बना सकते नहीं और जैसे हैं— वैसे भी रख सकते नहीं। यदि हमारा अधिकार चलता तो हम पदार्थोंको नष्ट होनेसे बचा लेते, शरीरको वृद्ध-रोगी न होने देते और मरने भी नहीं देते। अतः जिनपर हमारा अधिकार न चले, उन प्राकृत पदार्थोंको अपना मानना सरासर मूर्खता है।

अपने, और अपने लिये तो केवल परमात्मा है। गोस्वामीजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस ७। ११६। १)

यह जीव ईश्वरका अंश है। अतएव अविनाशी, चेतन, निर्मल और स्वभावसे ही सुखकी राशि है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् भी यही कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(१५।७)

अर्थात् इस देहमें वह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है। (और वही) प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंका आकर्षण करता है। उत्तम मान्यता तो यह है कि परमात्मा भी मेरे लिये नहीं, किंतु मैं परमात्माके लिये हूँ। मुझे संसार, प्रकृति और परमात्मा किसीसे कुछ भी नहीं चाहिये। जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, उसे परमात्मा अपना 'मुकुटमणि' बना लेते हैं।

परमात्माका अंश यह जीव होकर तुच्छ प्राकृत पदार्थों-की इच्छा करके अपना पतन करता है; जनमता, मरता और दुःख पाता है। यदि हिम्मत करके यह अपने मालिक परमात्माको पहचान ले (संसार बदलनेवाला है, और परमात्मा सदा रहनेवाले हैं—यह भली-भांति जान ले) तो निहाल— कृतकृत्य हो जाय। यह विद्या उत्कट जिज्ञासा मात्रसे प्राप्त होती है।

■

अनित्यमें नित्य-बुद्धिका त्याग करें

हमलोग बहुत बड़ी भूलमें हैं। यदि उसपर ध्यान देकर उसका सुधार कर लिया जाय तो हम सबको बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। वह भूल दो प्रकारसे हो रही है। प्रथम यह कि हम सभी नित्य-प्रति देखते, सुनते और अनुभव करते हैं कि जगत् परिवर्तनशील, विकारवान् और अनित्य है, फिर भी हमने इसे नित्य मान लिया है। दूसरी यह कि हम इस अनित्य संसारसे सुख चाहते हैं। भला, जो प्रतिक्षण स्वयं परिवर्तित हो रहा है, वह दूसरेको सुख पहुँचाये, यह कैसे सम्भव है ? सुख तो स्थायी वस्तुसे ही मिल सकता है।

कुछ भी स्थिर नहीं

हमें सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिये कि यह संसार अनित्य है, अतः इससे सुख पानेकी इच्छा करना तो मृग-तृष्णाके जलसे पिपासा शान्त करनेके समान असम्भव है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥

(मानस २।९१।४)

मैं तोहि अब जान्यो संसार ।
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किये बिचार ॥
(विनयपत्रिका १८८)

यह (संसार) परमार्थतः है ही नहीं । यह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है । कोई क्षण ऐसा नहीं है, जिसमें इसे 'स्थिर' कहा जा सके ।

हम इस संसारका दृश्य निरपेक्ष भावसे देखें, तभी इसका वास्तविक स्वरूप हृदयंगम कर सकेंगे । इसमें लिप्त होनेसे कुछ प्राप्त होनेवाला नहीं है—'यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है । इसका रहस्य जान लेनेपर निश्चय ही हमारा महान् हित होगा ।

हम संसारके लिये हैं

इस अनित्य संसारसे हमें कुछ लेना नहीं है, केवल देना-ही-देना है—ऐसा निश्चय करके लोक-सेवामें लग जाना चाहिये । जिन भोग-पदार्थ और शरीरादिको हम अपना समझते हैं, उन्हें संसारको समर्पित कर देना चाहिये । यह समर्पण यदि सच्चे हृदयसे संसारके लिये होगा तो कर्मयोग, प्रकृतिके लिये होगा तो ज्ञानयोग और भगवान्‌के लिये कर दिया जायगा तो भक्तियोग सिद्ध हो जायगा । इसके विपरीत यदि कहीं अपने लिये मान लिया गया तो जन्म-मरणयोगका सिद्ध हो जाना अनिवार्य है । इन जागतिक वस्तुओंको परमात्माने संसारके लिये प्रदान किया है । ये हमारे लिये

नहीं हैं। इन्हें अपनी मानकर हम अपने पास रख भी नहीं सकेंगे। यदि हम दूसरोंके अधिकारकी वस्तुओंसे सुख लेना चाहेंगे तो सुख तो मिलेगा नहीं, उलटे दुःख ही उठाना पड़ेगा। इतना ही नहीं, ये शरीरगत मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि भी हमारे नहीं हैं तथा न हम इनके लिये हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेनेपर इनकी ममता विनष्ट हो जाती है।

प्रायः मनुष्य ऐसा मानते हैं कि संसारकी रचना हमारे लिये हुई है तथा इसके सारे पदार्थ हमें सुख देनेके लिये ही निर्मित हुए हैं, किंतु यह धारणा बिल्कुल थोथी है। वास्तविकता तो यह है कि ये जागतिक वस्तुएँ प्राणिमात्रकी सेवाके लिये ही निर्मित हुई हैं, अतः बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने माने जानेवाले पदार्थोंको संसारका मानकर इन्हें जीव-जगत्की सेवामें लगाता रहे।

भगवान् कहते हैं—उन्हीं जीवोंका बार-बार जन्म और लय हो रहा है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
(गीता ८। १९)

—क्यों जन्म हो रहा है; क्योंकि नित्यके अंश (**ममैवांशो जीवलोके**'—गीता १५। ७) होते हुए भी ये अनित्य संसारसे, जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाला एवं असत्य है, चिपटे हुए हैं और उससे सुखकी आशा करते हैं।

संसार हमारा नहीं, किंतु हम इसकी सेवाके लिये हैं।

इससे भी उत्कृष्ट भाव तो यह है कि 'भगवान् भी हमारे लिये नहीं हैं'—ऐसा मानकर 'हम भगवान्‌के लिये हैं'—ऐसा दृढ़ विश्वास करें। यह भक्तिमार्गकी बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके अनन्य प्रेमकी महिमा वर्णित है। उन्हें प्रेमकी ध्वजा कहा गया है अर्थात् उनके प्रेमकी स्थिति सर्वोच्च मानी गयी है। वे भगवान् श्रीकृष्णसे कोई सुख नहीं चाहती थीं, अपितु उन्हें सुख पहुँचाती थीं।

सेवाकी पराकाष्ठा

मनुष्य सेवा करे और सबको सुख पहुँचाये तो उसका स्थान सबसे ऊँचा हो सकता है। लेनेसे मनुष्य नीचा बनता है और देनेसे ऊँचा उठता है। साधक जितना देना चाहेगा, उतना ही ऊँचा उठता चला जायगा। उदाहरणार्थ, देनेवालेका हाथ सदैव ऊपर रहता है और लेनेवालेका नीचे।

कहीं भी रहें, किसी भी स्थितिमें रहें, सबका हित करनेका स्वभाव बना लें। सबका हित चाहनेवाला भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।' (गीता १२। ४) निर्गुणोपासक और सगुणोपासक—दोनों ही प्राणिमात्रके हितका साधन करते हुए जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त कर लेते हैं। 'प्रभुको प्राप्त करना' या 'ब्रह्मको प्राप्त करना'—दोनों समानार्थक हैं।

धन कमानेवाले सब लखपति ही हो जायँ, यह किसीके वशकी बात नहीं। यदि किसी प्रकार हो भी गये तो करोड़पति बनना शेष रह जायगा, करोड़पति बन गये तो अरब-

पति बननेकी इच्छा जगेगी ही। यह इच्छा प्रायः सबमें समानरूपसे विद्यमान है कि धन प्राप्त हो; क्योंकि धन प्रायः सबको अच्छा लगता है। इसी तरह यदि हम मान लें कि भगवान् श्रेष्ठ हैं तो इसमें हमारी क्या हानि है। धनकी इच्छामें तो परतन्त्रता है, सबको इच्छित धन प्राप्त हुआ हो—ऐसा आजतक सुनने-देखनेमें भी नहीं आया, किंतु जिस किसीने भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कट इच्छा की है, उसे भगवान् अवश्य प्राप्त हुए हैं। भगवत्प्राप्तिकी इच्छामें परतन्त्रता नहीं है। माता अपने बच्चेको नीरोग बनाये रखे, यह उसके हाथकी बात नहीं; किंतु उसके हितकी भावना तो वह रख ही सकती है। इसी प्रकार यदि हम मानवमात्रके हितकी भावनाको दृढ़तासे धारण कर लें तो निश्चय ही हमें एक दिन भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

हितकी भावना तभी हो सकती है, जब हम अपने सुख-का त्याग करेंगे तथा सुख-प्राप्तिकी भावनाका त्याग करना सुगम भी है। इसके लिये बार-बार यही निश्चय करना चाहिये—'किससे सुखकी आशा करें, सभी तो प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं तथा अस्थिर, अनित्य और नाशवान् हैं।' इसलिये अनित्यमें नित्य-बुद्धि और सुख-बुद्धिका त्याग कर देनेसे हम सदाके लिये निहाल हो सकते हैं।

■

निषिद्धाचरणका त्याग

प्रत्येक मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो अपने उद्धारके लिये प्रयत्नशील है; किंतु यदि वह एक बातपर विशेषरूपसे ध्यान दे तो उसका बेड़ा बहुत शीघ्र पार हो सकता है—वह स्वयं जिन-जिन बातों अथवा आचरणोंको बुरा समझता है, यदि उनका त्याग करता चला जाय, तो बस, उसका उद्धार हो जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं, किंचिन्मात्र भी शङ्का नहीं।

मनुष्य जबतक अपने जाननेमें आनेवाले दुर्गुण, दुराचार आदिका त्याग नहीं करता, तबतक वह चाहे कितनी ही बातें बनाता रहे, वास्तविक तत्त्वको प्राप्त नहीं कर सकता। किया हुआ साधन तो निष्फल नहीं जायगा, परंतु जिन दुर्गुण-दुराचारोंको वह बुरा समझता है, उनका त्याग यदि नहीं करेगा तो वर्तमानमें सिद्धि नहीं प्राप्त होगी। शास्त्र, भगवान् और संतोंकी बात दूर रही, 'अपने जाननेमें जो असत् है, ठीक नहीं है, उसे आचरणमें नहीं लाऊँगा।' बस, इस बातपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो जाय तो बेड़ा पार है।

नर जाने सब बात, जान-बूझ अवगुन करे।
क्यूँ चाहत कुमलात कर दीपक कूँए पड़े॥

मन जानता है कि यह ठीक नहीं है, फिर भी उसे करता है। ऐसी स्थितिमें उसीसे पूछा जाय कि क्या तुम्हारा उद्धार होना चाहिये ? यदि वह निष्पक्ष हो सरलतापूर्वक कहे तो उसे भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मेरा उद्धार होना अन्याय है। इसीलिये ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक पुस्तकमें सबसे पहली श्रेणीमें 'निषिद्ध कर्मोंका त्याग' लिखा है—चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भक्षण, प्रमाद, आलस्य आदि जो भी निषिद्ध कर्म हैं, उन्हें शरीर, मन, वाणीसे किसी भी प्रकार न करना, किंचिन्मात्र भी न करना—यह प्रथम श्रेणीका त्याग है। फिर जितने दुर्गुण-दुराचार हैं उनका, नाशवान् आसक्तिका तथा असत् (अपनी जानकारीमें जो असत् है उस) का त्याग कर देना चाहिये। लोग बड़े-बड़े साधनोंको काममें लाते हैं, जप, तप, तीर्थादि करते हैं, समाधि लगाते हैं—ये बहुत अच्छे साधन हैं, पर उपर्युक्त त्याग इनसे कम नहीं रहेगा, निर्विकल्प समाधिसे भी कम नहीं रहेगा।

असत्का सर्वथा त्याग होते ही सत्यमें स्वतः ही स्थिति हो जाती है; यदि नहीं होती तो अवश्य कहीं-न-कहीं असत्का सङ्ग है, अन्तःकरणमें असत्की आसक्ति है, नाशवान्में आकर्षण है—अन्य कोई कारण नहीं है; क्योंकि सत्य तत्त्व तो सबको स्वतः प्राप्त है। भगवान् कहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५ । ७)। **मम एव**

अंशः'—यहाँ 'मम अंशः' न कहकर 'मम एव अंशः' कहा गया है। अर्थात् यह जीव मेरा ही शुद्ध अंश है। यह भगवद्-वाणी है। भक्तकी वाणी भी इसी बातको दुहराती हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस ७। ११६। १)

उपर्युक्त अर्द्धालीमें ईश्वरांश जीवके लिये चार विशेषण दिये गये हैं—अविनाशी, चेतन, अमल तथा सहज सुख-राशि। केवल नाशवान्के सङ्गसे इसकी दुर्दशा है; नाशवान् भी कैसा? जो हमें नाशवान् दीखता है। इसलिये संकल्प करना चाहिये—'हम जिसको नाशवान् समझते हैं, अब उसके अधीन नहीं होंगे, उसमें आसक्ति नहीं करेंगे, नहीं करेंगे।' इस संकल्पमें महती शक्ति है। जैसे हम यहाँसे मोटरमें बैठकर रात्रिके समय हरिद्वार जा रहे हैं, मोटरकी रोशनी कितनी ही तेज क्यों न कर दी जाय, किंतु यहाँसे हरिद्वार दीखेगा नहीं, परंतु जितना मार्ग दीखे, उतना तय करते चले जायँ तो हरिद्वार पहुँच जायँगे, इसी प्रकार साधक जितना साधन-मार्गमें आगे बढ़ेगा, उतना उसे अग्रिम मार्ग दीख पड़ेगा और जितना दीखे, उतना तय कर लेनेपर उससे आगे और दीखेगा, अन्तमें आगे बढ़ते-बढ़ते वह सिद्धि प्राप्त कर लेगा।

ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति स्वयं साधकमें विद्यमान हैं। उनकी ओर दृष्टि करा देनेवालेको गुरु, शास्त्र, महात्मा, और भगवान् कहते हैं। इनमें सबसे मुख्य भगवान् हैं। वे

सदा सबके हृदयमें विराजमान हैं। जिसकी सच्ची लगन होगी, उसे वे हृदय-स्थित प्रभु संकेत देंगे; किसी गुरु या महात्मासे मिला देंगे; कोई ऐसी घटना घटा देंगे, जिसके कारण वह सत्यकी ओर चल पड़ेगा; कोई परिस्थिति ऐसी आ जायगी, जिससे वह सत्य-पथपर चले विना रह नहीं सकेगा। यह सब काम प्रभुका है। जीवका तो केवल इतना दृढ़ विचार होना चाहिये कि मुझे प्रभुकी ओर ही चलना है। इतनी भी जिम्मेवारी क्यों हो गयी ? इसलिये कि यह संसारकी ओर चला है, इसने नाशवान् जड-पदार्थोंका संग्रह किया है, उन्हें आदर दिया है; अतः इनके त्यागकी जिम्मेवारी भी इसी (जीव) पर है।

असत्के त्यागमें कई प्रश्न उठते हैं। यदि असत् (पदार्थों) का त्याग कर देंगे तो हमारा व्यवहार कैसे होगा, काम कैसे चलेगा, निर्वाह कैसे होगा ? यह मुख्य प्रश्न है। पर सज्जनो ! निर्वाह आपके उद्योगपर, आपके विचारपर अवलम्बित नहीं है। पातञ्जलयोग-दर्शनमें कहा गया है— **'तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।'** (२ । १३) तीन बातें मनुष्यके जन्मके साथ ही उत्पन्न होती हैं—जन्म, आयु और भोग। जिन कर्मोंके फलस्वरूप शरीर मिला है, उन्हींसे आपका सम्बन्ध है। उन्हीं कर्मोंसे आयु, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदि होते हैं; यह सर्वथा पक्की, सच्ची एवं निश्चित बात है। प्रारब्धपर ऐसा विश्वास न हो तो उन प्रभुपर विश्वास करो, जिन्होंने जन्म दिया है, आपके निर्वाहका प्रबन्ध किया

है। पैदा तो कर दे और प्रबन्ध न करे, ऐसी भूल सर्वसमर्थ भगवान्‌की ओरसे नहीं हो सकती। जो अपने कर्तव्यसे कभी च्युत नहीं होते, वे भगवान् हैं और यदि कर्तव्यसे च्युत होते हैं तो उन्हें भगवान् कहेगा ही कौन ? जो सर्वसुहृद्, सर्वान्तर्यामी और सर्वसमर्थ हैं, उनके रहते हम ऐसी शङ्का करें कि हमारा निर्वाह कैसे होगा, यह आस्तिकता नहीं है। आस्तिक-बुद्धिका अवलम्बन लेकर इस प्रकारकी शङ्का दूर कर देनी चाहिये।

प्रभुपर विश्वास न हो तो कम-से-कम अपने पुरुषार्थपर, उद्योगपर, क्रियाशीलतापर ही विश्वास करें। आपको जो बुद्धि और उद्योग करनेकी शक्ति मिली है, उससे क्या आप अपनी उदरपूर्ति नहीं कर सकेंगे ? नीतिकार कहते हैं—**'वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्।'** क्या पक्षी एक चोंचसे अपनी उदरपूर्ति नहीं करते हैं ? करते ही हैं; तो आप अपना निर्वाह क्यों नहीं कर सकेंगे ? लाखों वर्ष पूर्व भगवान् श्रीरामके दरबारमें एक सारमेय (कुत्ता) न्याय-हेतु उपस्थित हुआ था और अभीतक कुत्तोंका वंश चलता है। उनके न खेती है, न नौकरी; न व्यापार है, न दलाली; न अध्यापन है, न वकालत और न कोई अन्य व्यवसाय ही है; फिर भी उनकी उदरपूर्ति होती है। क्या हम इन क्षुद्र पशु-पक्षियोंके समान भी नहीं हैं, जो उदरपूर्ति एवं निर्वाहकी चिन्ताकर असत्‌को अपनायें और पाप-कर्म करें ? इस विषय-पर थोड़ी आगेकी बात सोचें—यदि आपका काम नहीं

चलेगा, रोटी नहीं मिलेगी, कपड़ा नहीं मिलेगा तो क्या होगा ? मर जायँगे, और क्या होगा ? इससे अधिक आपत्ति और क्या आयेगी ? अच्छा, यह बतलाइये कि पाप करेंगे तो नहीं मरेंगे ? अमर हो जायँगे ? कदापि नहीं। मरना तो पड़ेगा ही। फिर आपके जीनेका उपयोग यह हुआ 'कि आप अधिक-से-अधिक पाप-संग्रह करके मरेंगे, शुद्ध निष्पाप नहीं मरेंगे। क्या यही उद्देश्य है मनुष्य-जीवनका ?

बस, हो गया, इतना पाप बहुत हुआ। आजसे ही विचार कर लें—'अब अन्याय नहीं करेंगे, पाप नहीं करेंगे, जिस कामको बुरा समझते हैं, उसे नहीं करेंगे।' मर जायँगे तो क्या दो बार थोड़े ही मरना पड़ेगा ? जो जन्मा है, उसे एक बार मरना पड़ेगा ही। यह तो है नहीं कि पाप छोड़नेसे दो बार मरना पड़ेगा। ऐसा दृढ़ विचार कर लिया जाय तो फिर आपको कोई भी डिगा नहीं सकता। आप कह सकते हैं कि हमारे कुटुम्ब है, हमारी जात्ति है, हमारी प्रतिष्ठा है, वह कैसे रहेगी ? विचार करें, ये सब सदा रहेंगी क्या ? वस्तुतः ये सब मिटनेवाली हैं। इनकी इच्छा रखनेसे आपको केवल धोखा होगा, इनके निमित्त किये गये निषिद्ध आचरणोंका पाप लगेगा। नरक अकेले भोगना होगा। यह संसार, परिवार, जाति, प्रतिष्ठा, व्यवहार—कोई भी काम न आयगा। दुर्दशा केवल आपकी होगी।

आज मनुष्य पैसेका गुलाम होकर वेगपूर्वक पतनके गर्तमें जा रहा है ? वह रुपयेके लिये न प्रतिष्ठाको देखता है

न आपत्तिको। कैदमें जाना पड़े तो भी कोई परवाह नहीं। छल-कपट, जालसाजी, बेईमानी करके किसी प्रकार रुपये कमा लो, बस। आपत्ति या अप्रतिष्ठाकी कोई चिन्ता नहीं। क्या हम आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भी इनका त्याग नहीं कर सकते? फिर कैसे जिज्ञासु हैं? कैसे साधक हैं? यह सोचें।

मैं बार-बार दुहराता हूँ—यह पक्का विचार कर लें कि जिन कामोंको हम वुरा समझते हैं, अवसे उन्हें नहीं करेंगे। कम-से-कम उन्हें क्रियामें तो नहीं ही लायँगे। मनमें खरावी आ भी गयी और हमने उसे कार्यरूपमें परिणत न किया तो वह स्वयं मिट जायगी, बिना उपाय किये ही मिट जायगी। उद्देश्य पक्का हो जानेपर मनकी खरावी टिक नहीं सकती। हमें शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है, हम सिद्धान्त नहीं जातते, पढ़े-लिखे नहीं हैं, कोई परवाह नहीं; अपने मनसे जिसे हम पाप समझते हैं, वह नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे। बहुत वर्षों-तक, महीनोंतक, दिनोंतक समझमें न आया, कोई चिन्ता नहीं; अब समझमें आया, अब भी छोड़ देंगे तो बेड़ा पार होनेमें कोई संदेह नहीं है।

■

भगवान्में मन लगानेके अचूक उपाय

'मानव-जीवन केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है'—यह विचार यदि हृदयमें निरन्तर जाग्रत् रहे तो साधन तीव्र गतिसे आगे बढ़कर अनायास ही भगवत्प्राप्ति-रूप परम सिद्धिकी उपलब्धि हो सकती है।

साधन-मार्गमें चलनेवाले भाई-बहनोंके सामने यह शङ्का प्रायः आती है कि 'जब हम एकान्तमें बैठकर भगवान्का चिन्तन करने लगते हैं, तब मनमें भगवान्के स्थानपर संसार-का चिन्तन क्यों होने लगता है?' यहाँ इसीपर कुछ विचार करनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

सिद्धान्ततः जो 'किया जाता है,' वह कृत्रिम तथा जो 'होता है', वह यथार्थ माना जाता है। उक्त शङ्कामें ही यह बात स्पष्ट है कि भगवान्का चिन्तन तो किया जाता है, किंतु संसारका चिन्तन स्वतः होने लगता है। इसलिये हमारे द्वारा किया जानेवाला भगवच्चिन्तन वास्तवमें कृत्रिम और स्वतः होनेवाला संसारका चिन्तन स्वाभाविक सिद्ध हुआ।

इस विषयमें ध्यान देनेकी बात यह है कि जब हम साधन करने बैठते हैं तो भगवान्को तो अपनेसे अत्यन्त दूर

एवं दुर्लभ तथा संसारको अत्यन्त निकट एवं सुलभ समझते हैं। इस प्रकार हम संसारके होकर सांसारिक उपकरणों (मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर) द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति करना चाहते हैं। साधनकी प्रगतिमें यही सबसे बड़ी बाधा है।

भगवच्चिन्तनके समय मनमें उठनेवाले सांसारिक विचारोंको हम तीन भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—

१—वर्तमानकालसे सम्बन्धित विचार।
२—भूतकालसे सम्बन्धित विचार।
३—भविष्यत्कालसे सम्बन्धित विचार।

वर्तमानकालसे सम्बन्धित विचार

साधनके लिये बैठनेपर हमें जो कार्य अभी करने हैं, उनकी आवश्यकता प्रतीत हो सकती है, जैसे—प्यास लगी है, अमुकसे मिलना आवश्यक है आदि-आदि। इनका निपटारा करनेके दो उपाय हो सकते हैं—

(क) यदि कार्य अभी करना आवश्यक हो तथा उस कार्यके उपकरण और समय भी प्राप्त हों तो पहले उसे पूरा कर लेना चाहिये। जैसे—जल पी लेना, भोजन कर लेना, मिल लेना आदि। इसके बाद ही साधनमें संलग्न होना उचित होगा, अन्यथा बार-बार उस कार्यके विषयमें संकल्प-विकल्प उठते रहेंगे। यदि उसकी सामग्री और समय सुलभ न हों तथा उसके अभी न होनेसे कोई हानि भी न दीखती

हो तो उसको इस समय स्थगित कर देना चाहिये। अर्थात् यह अभी हमें करना ही नहीं है—ऐसा पक्का विचार करके मनसे संकल्परहित हो जाना चाहिये।

(ख) अथवा यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि अभी अमुक कार्य नहीं करना है, जैसे—अमुक व्यक्तिसे दो घंटे वाद ही मिलना है। मनको समझा देना चाहिये कि 'देखो, यह कार्य अमुक समयतकके लिये स्थगित कर दिया गया है, इसके लिये चिन्तन करना व्यर्थ है। यदि तुम उपद्रव करोगे तो भगवान्‌का चिन्तन भी नहीं होगा तथा कार्य भी न होकर व्यर्थ ही समय नष्ट होगा।'

उपर्युक्त रीतिसे विचारद्वारा वर्तमानसे सम्बन्धित व्यर्थ चिन्तनको छोड़कर प्रभु-चिन्तनमें संलग्न हो जाना चाहिये।

भूतकालसे सम्बन्धित विचार

हमें कभी-कभी व्यतीत घटनाओंकी भी याद आती है। वस्तुतः वहाँ कोई घटना, परिस्थिति अथवा तत्सम्बन्धित व्यक्ति उपस्थित नहीं होता, केवल उस अतीत घटनाका चिन्तन होता है।

भूतकालकी स्मृतिमात्रसे कुछ भी लाभ नहीं होता, प्रत्युत हानि ही होती है। महाभारतमें एक कथा आती है— 'भीमसेन एकान्तमें बैठे हैं। सहसा उनके मस्तिष्कमें वह दृश्य घूम जाता है, जब विशाल सभा-भवनमें द्रौपदीको घसीट लाया जाता है और दुष्ट दुःशासनद्वारा उन्हें निर्वसन करने-

की कुचेष्टा की जाती है। उस दृश्यके स्मरणमात्रसे भीमसेन-की आँखें लाल हो जाती हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं और वे क्रोधसे दाँत पीसने लगते हैं।' विचार करें, क्या उस समय वनमें भीमसेनके समक्ष उक्त घटनासे सम्बन्धित कोई भी दृश्य, व्यक्ति अथवा परिस्थिति विद्यमान थी ? नहीं, यह तो केवल इसलिये हुआ कि उस घटनाकी स्मृतिमात्रको उन्होंने कुछ समयके लिये सत्य समझ लिया अथवा यों कहिये कि 'नहीं' को 'है' मान लिया।

भविष्यत्कालसे सम्बन्धित विचार

'मैं अमुक कार्य करूँगा,' 'अमुक जगह जाऊँगा' आदि भविष्यकी कल्पनाएँ हमारे मानस-पटलपर प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। यदि हम गम्भीरतासे विचार करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह केवल भविष्यकी कल्पनामात्र है, वस्तुतः इस समय सत्य कुछ भी नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारा मन अवतक जिसका चिन्तन कर रहा था, वह वास्तवमें अभाव अर्थात् 'नहीं'का चिन्तन था। हमने 'नहीं'को 'है' (असत्यको सत्य) मान लिया, यही भूल थी। इसलिये 'नहीं'की उपेक्षा कर जो परमात्मा सदैव 'है', उन्हीं-का चिन्तन करना चाहिये।

इसपर फिर वही शंका दुहरायी जाती है कि'आपका कहना यद्यपि ठीक है और आपकी बात भी हमारी समझमें आती है, किंतु फिर भी एकान्तमें बैठनेपर मन भगवान्‌में न लग-

कर संसारकी ओर ही भागता है, इसका कारण क्या है ?'

इसका समाधान यह है कि मनको भगवान्‌में लगानेकी धुन छोड़कर अपने आपको ही भगवान्‌में लगाना होगा। जब आप स्वयं भगवान्‌में लग जायँगे, तब मन, बुद्धि, अहं आदि स्वतः ही उनमें लग जायँगे, जैसे राजाके आनेपर उसके पार्षद स्वतः ही साथमें आ जाते हैं।

मनुष्य अपनेको जैसा मानता है, उसकी स्थिति वैसी ही हो जाती है। जैसे—'मैं गृहस्थ हूँ'—यह मान्यता साधारण मनुष्यके हृदयमें बसी हुई है। इसी प्रकार 'मैं साधक हूँ'—ऐसा माननेवाला यह समझे कि मेरे साध्य सदा-सर्वदा मेरे हृदयमें विराजमान हैं—

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' (गीता १५ । १५)।

इस प्रकार सभी समय भगवान्‌में एकीभावसे स्थित रहना चाहिये।

मनका संसारके साथ सम्बन्ध होनेमें क्या कारण है—इस विषयमें श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें एक कथा आती है—एक बार ब्रह्माजीके मानस-पुत्र सनकादिकोंने ब्रह्माजीसे प्रश्न किया—'पिताजी ! चित्त गुणोंमें अर्थात् विषयोंमें लिप्त रहता है और गुण (विषय) भी चित्तकी प्रत्येक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं। ऐसी स्थिति-में जो पुरुष इस संसार-सागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहे, वह इन दोनोंको एक दूसरेसे अलग कैसे करे ?'

उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्ति-भावसे श्रीहरिका चिन्तन किया। इसपर श्रीभगवान् स्वयं हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुए। सहसा अपने सामने एक हंसको प्रकट हुआ देख सनकादिकोंने पूछा, 'आप कौन हैं ?'

इसपर श्रीहंसभगवान् बोले—'ब्राह्मणो ! यदि परमार्थ वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है तो आत्माके सम्बन्धमें आपलोगोंका ऐसा प्रश्न युक्तिसंगत कैसे हो सकता है ? अथवा मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोलूँ तो भी किस जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ ? देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सबके शरीर पञ्चभूतात्मक हैं, अतः कारण और कार्य भी परमार्थरूपसे अभिन्न ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं', आपलोगोंका यह प्रश्न केवल वाणीका विलास तथा विचारसह न होनेसे निरर्थक है। मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियोंके द्वारा भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है, इस सिद्धान्तको आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये।'

फिर श्रीभगवान्ने अपना परिचय देते हुए कहा—'पुत्रो ! यह चित्त विषयोंका चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है तथापि विषय और चित्त—ये दोनों ही मेरे स्वरूप-भूत जीवकी देह हैं—उपाधि हैं, अर्थात् चित्त और विषय—

इन दोनोंके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिये जो चित्त बारंबार विषयोंका सेवन करते रहनेसे विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं—इन दोनोंको अपने वास्तविक स्वरूपसे अभिन्न मुझ परमात्मामें स्थित होकर त्याग देना चाहिये—'मद्रूप उभयं त्यजेत्'।' (श्रीमद्भागवत ११।१३।२६) वास्तवमें तो मन एवं सांसारिक चिन्तन—दोनों ही जड हैं, अतः दोनोंको छोड़कर हमें नित्य चेतन परमात्मामें ही स्थित रहना चाहिये।

यदि यह कहा जाय कि 'जब हम स्वयं साधनमें लगते हैं, तब भी तो सांसारिक चिन्तन हमारा पीछा नहीं छोड़ता।' इसके लिये एक उत्तम युक्ति यह है कि हमें सांसारिक चिन्तनके 'अच्छा' और 'बुरा'—ये दो विभाग नहीं करने चाहिये—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
(गीता ७।२७)

साधकको अपने सिद्धान्तके अनुकूल चिन्तनमें प्रसन्न तथा प्रतिकूल चिन्तनमें अप्रसन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि ऐसा करके वह स्वयं ही व्यर्थ चिन्तनको सत्तावान् बना देता है। उसे बारंबार विचार करना चाहिये कि "यह केवल 'नहीं'का चिन्तन है और वह भी मनमें है, 'हम'में नहीं। अतः हमें इससे कोई मतलब नहीं।" इस प्रकार विचार-

पूर्वक परमात्मामें स्थित रहना चाहिये।

संसारकी प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नष्ट हो रही है, जिसने यहाँ जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

(गीता २। २७)

—तब फिर चिन्ता कैसी ? ये सांसारिक चिन्तन भी पैदा ही हुए हैं, अतः इनका भी नाश निश्चित है। स्वतः नष्ट होनेवाली वस्तुके विनाशका प्रयास करना निरी मूर्खता ही तो है। साधकको चाहिये कि जब भी सांसारिक चिन्तन होने लगे तो वह उसमें रमे नहीं, अपितु उसकी उपेक्षा कर दे—'हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं है'—यह विचारकर और उस चिन्तनसे उपराम होकर निरन्तर प्रभुमें ही स्थित रहे।

बुरे चिन्तनोंसे मुक्त होनेकी एक युक्ति भी है—

बहुत दिनोंसे बंद किसी कमरेमें जब झाड़ू लगायी जाती है, तब उसमें धूलिके सूक्ष्म कण गर्दके रूपमें उड़ते दिखायी देते हैं। यदि हम उस गर्दके गुबारसे घबराकर कह बैठें—'अरे ! यह क्या ? यह कमरा तो झाड़ू लगानेपर पहलेसे भी अधिक गंदा हो गया तो यह हमारी बुद्धिमानी नहीं मानी जायगी। ठीक इसी प्रकार अनन्तकालके संस्कार हमारे अन्तःकरणमें सोये पड़े हैं। जब हम प्रभुको पुकारते हैं, तब उनकी कृपाशक्ति आकर हमारे अन्तःकरणरूपी कक्षका मार्जन करती है। उस समय उन संस्कारोंकी संकल्प-

विकल्परूप उड़ती गर्दको देखकर हम घबरा उठते हैं। हमें तो उस दयालुकी कृपाको देखकर गद्गद हो जाना चाहिये— और विचारना चाहिये कि 'देखो ! प्रभु कितने कृपालु हैं, जो स्वयं मुझ पापीके हृदय-मन्दिरकी सफाई कर रहे हैं, स्वयं ही आसन लगा रहे हैं।' ऐसे प्रभुको अपना मान लेनेके बाद साधक समस्त चिन्तनोंसे रहित हो जाता है और उसकी परमात्मामें स्वतः ही स्थिति हो जाती है।

कुछ समय बाद जब साधककी वृत्ति परमात्मामें स्थिर होने लगती है, तब सांसारिक चिन्तन अपने-आप कम होते-होते लुप्त हो जाते हैं। इस स्थिरतामें साधकको एक विलक्षण आनन्दकी अनुभूति होती है। यही सात्विक सुख है। साधक यदि सात्त्विक सुखका उपभोग करने लगता है, अर्थात् इसी प्रसन्नतामें संतोष कर लेता है तो उसकी प्रगति कुछ कालके लिये वहीं रुक जाती—अवरुद्ध हो जाती है (गीता १४।६)। अतः साधकको चाहिये कि वह सावधानीपूर्वक उत्तरोत्तर साधनको आगे बढ़ाता ही जाय; क्योंकि यह स्थिरता भी एक स्थिति ही है, जो चञ्चलताकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। तत्त्व उससे भी विलक्षण (निरपेक्ष) है; साधकका लक्ष्य वह ज्ञानस्वरूप परमात्म-तत्त्व ही है, जो इस स्थिति (सात्त्विक सुख-आनन्द) और गति (चञ्चलता) को भी प्रकाशित करता है। वास्तवमें साधक इस ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्वमें अनादिकालसे ही स्थित है। केवल इसे स्वीकार मात्र करना है। इसके बाद स्वतः सिद्ध सहजा-

वस्था या स्वरूपावस्थिति प्राप्त हो जाती है। परमात्मतत्त्व-के साथ एकता ही सहजावस्था है। इस अवस्थामें रञ्चमात्र भी श्रम नहीं है। इसमें करना, पाना, जानना, चिन्तन, मनन, स्थिरता, गति आदिका सर्वथा अभाव है। यही स्वतःसिद्ध स्वाभाविक तत्त्वकी प्राप्ति है। यही प्राणीका परम एवं चरम लक्ष्य है, जिसके लिये मानव-जीवन मिला है।

■

‘सो प्रिय जाकें गति न आन की।’

प्रेम-प्राप्तिमें बाधा—कामना

संत-महात्माओंने कहा है कि प्रेमके समान कोई तत्त्व नहीं है। प्रेममें वह शक्ति है, जो परमात्मासे मिला देती है। जैसे प्रेमके बराबर कोई ऊँची वस्तु नहीं है, उसी प्रकार कामनाके बराबर कोई नीची वस्तु भी नहीं है। प्रेमके मार्ग-में कामना एक बहुत बड़ी बाधा है। कामनाका अंश लेकर यदि परमात्माकी ओर चलेंगे तो भी वह बाधा ही देगी और यदि संसारके प्राणी-पदार्थोंकी कामना करेंगे, तब तो पतन निश्चित ही है। मनुष्यको समस्त दुःख, संताप, जलन, आपत्ति, विक्षेप आदि इस कामनाके कारण ही प्राप्त होते हैं, अन्यथा संसारमें कोई दुःख है ही नहीं। ‘हमारे मनकी बात हो जाय’—यह है कामनाका स्वरूप। यही आपत्ति एवं दुःखोंकी जड़ है। यदि विचारपूर्वक इसका त्याग कर दें तो हम आज और अभी कृतकृत्य हो जायँ।

यदि कामना मनसे दूर होती न दीखे तो घबराना नहीं चाहिये, अपितु प्रयत्न करके कम-से-कम इसके वशी-भूत तो नहीं ही होना चाहिये; फिर सब कुछ ठीक हो जायगा। कामनाके भुलावेमें आकर तदनुसार क्रिया

कर बैठना ही वशीभूत होना है। कामना शत्रु है। इस शत्रुके अधिकारमें मत आइये, फन्देमें न फँसिये। कामनाके कारण ही राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है, जो जीवके महान् शत्रु हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३ । ३४)

'मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें स्थित जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें न हो; क्योंकि वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् लुटेरे हैं।'

अर्जुनने प्रश्न किया—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३ । ३६)

'भगवन्! यह मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है? ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई बलपूर्वक इससे ऐसा करवा रहा हो?'

तब भगवान्ने कहा—'**काम एषः**' (गीता ३ । ३७)—यह काम अर्थात् यह भोगेच्छा (आसक्ति)—सुखकी, आरामकी, स्वतन्त्रताकी, जीनेकी, बड़ाईकी कामना ही

अनर्थोंकी मूल है। मुक्तिकी इच्छा भी साधकको समयपर मार्गसे विचलित कर देती है; परंतु अन्य प्रकारकी इच्छा—कामना तो निस्संदेह पतन करती ही है।

वड़ी-वड़ी मिलों एवं कारखानोंमें विजलीसे कई हॉर्स पावरकी मोटरें चलती हैं, उनसे सम्बद्ध करके दूसरी धुरियों-पर पट्टा चढ़ा दिया जाता है। मोटरके साथ-साथ सब धुरियों के चक्के भी चलते हैं। उन चलते हुए चक्कोंकी लपेटमें यदि किसी मनुष्यका वस्त्र आ जाता है तो उसके साथ वह मनुष्य भी चक्कोंकी लपेटमें आकर समाप्त हो जाता है, ठीक इसी प्रकार इस संसाररूप कारखानेके विभिन्न योनिरूप चौरासी लाख चक्कोंके बीच सुरक्षित रहना हो तो इससे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग करके इसकी सेवा करनी चाहिये, अन्यथा चक्कोंमें पिस जाना निश्चित है।

आप अभी मुक्त होना चाहें या किसी अन्य जन्ममें, अन्ततोगत्वा आपको इस अनन्त पापोंकी जड़भूत कामनासे अपना पिण्ड छुड़ाना ही पड़ेगा।

यह जीवात्मा है तो परमात्माका सनातन अंश, परंतु इसने प्रकृतिके अंश (संसार, शरीर आदि)को पकड़ रखा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५।७)

यह जीव प्रकृतिके अंशसे जितनी सुख-सुविधा चाहेगा,

उतना ही कामनाओंके बीहड़ वनमें भटकता चला जायगा और यदि सांसारिक सुखेच्छासे विमुख हो परमात्माकी ओर चलेगा तो समस्त दुःखोंसे दूर—बहुत दूर शान्ति और प्रेमके महान् आनन्द-समुद्रमें निमग्न होकर सदाके लिये निहाल हो जायगा।

एक निश्चय

प्रेमी भक्त भगवान्से अपना नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे कहते हैं—'प्रभो! मैं आपका हूँ, मेरा अन्य किसीसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। आप चाहे मुझे अपना मानें, या न मानें।' विश्वासकी ऐसी दृढ़ता प्रेमास्पदको व्याकुल कर देती है। माँ पार्वतीके ये दृढ़ निश्चयात्मक वचन प्रेमियोंके लिये एक उदाहरण हैं—

तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस १।८०।३)

'भगवान् शंकर यदि सौ बार कहें कि मैं तुझे स्वीकार नहीं करता और मेरे करोड़ों जन्म बीत जायँ तो भी मैं नारदजीके उपदेशकी अवहेलना नहीं करूँगी।'

'बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥'

'वरण करूँगी तो भगवान् शंकरका ही, नहीं तो कुँवारी ही रहूँगी।' क्या भगवान् शंकरमें ऐसी शक्ति है, जो उन्हें अस्वीकार कर दें! यह है एकाङ्गी प्रेम। प्रेम होता ही एक

ओरसे है। प्रेमास्पद चाहे प्रेम करें या न करें, हमें इस बात-की परवाह नहीं।

तत्त्वबोध होता है अपने कल्याणके लिये, अपने उद्धारके लिये, जबकि प्रेम होता है भगवान्‌को सुख देनेके लिये, भगवान्‌की सेवा करनेके लिये। प्रेमीको प्रेमास्पदसे कुछ नहीं चाहिये। उसकी तो बस एक ही माँग है—'भगवान् मुझे प्यारे लगें, 'मीठे लगें।'

मैं प्रभुका हूँ

भगवान् मुझे प्यारे लगें—इसका क्या उपाय है? वैसे तो जप, ध्यान, भजन, स्वाध्याय, आदि सभी साधन उपयुक्त हैं, परंतु भगवान्‌के साथ जो अपनेपनका सम्बन्ध है, वह इसके लिये अमोघ उपाय है। 'बस, मैं भगवान्‌का हूँ, केवल भगवान्‌का; और मेरा कोई नहीं है।'

'सो प्रिय जाकें गति न आन की'—

(मानस ३।९।४)

भगवान्‌को वह प्रेमी भक्त अत्यन्त प्रिय है, जिसका किसी दूसरेसे लगाव न हो।

अब प्रश्न यह होता है कि दूसरे लोग भी मुझे अपना मानते हैं, इसके लिये क्या करना चाहिये? दूसरे लोग मुझे अपना मानते हैं, इसका अर्थ यह है कि मैं उनके अनुकूल चलूँ, उनकी सेवा करूँ; परंतु यदि मैं उनको अपने अनुकूल चलाना चाहूँगा तो अवश्य ही हलचल मचेगी। 'कोई मेरे

अनुकूल चले'—इस बातकी तो धारणा ही मिटा देनी चाहिये, तभी प्रेम होगा; अन्यथा आदान-प्रदान होगा, व्यापार होगा। 'मैं भगवान्का हूँ'—इसका तात्पर्य यह है कि वे मुझे चाहे जैसे रखें, मुझसे चाहे जैसे काम लें, मुझे सुख पहुँचायें या दुःख, अच्छा मानें या बुरा, मैं तो उनकी वस्तु हूँ। वे जैसे चाहें मेरा उपयोग कर सकते हैं, उनको पूरी स्वतन्त्रता है। प्रभुके प्रति समर्पणका यही सर्वोत्तम उपाय है।

यदि प्रेमीसे कोई पूछे कि 'तुम भगवान्को अपना क्यों मानते हो ?' तो उसका उत्तर होगा—'वे मुझे प्यारे लगते हैं, इसलिये मानता हूँ। उनके सिवा दूसरा कोई मेरा है ही नहीं।' सच है, भगवान्के सिवा अन्य सब स्वार्थवश धोखा देनेवाले हैं—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस ७। ४६। ३)

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

(मानस ४। ११। १)

'भगवान्के सम्बन्धसे मुझे क्या मिलेगा ?'—इस 'लेने' के फेरमें पड़कर ही तो इतने जन्म बिता दिये, इसी कारण संसारमें जन्म-मरण हो रहा है। इसी कारण सभी जीव दुःख पा रहे हैं, बड़े-बड़े कष्ट उठा रहे हैं। जीवकी जितनी भी हानि होती है, सब इस 'लेनेकी इच्छा'का ही फल है।

सच पूछिये तो प्रेमी भगवान्का भी दाता होता है। वह भगवान्को देता है—प्रेम, श्रद्धा और विश्वास तथा संसारको

देता है—सेवा। प्रेमी तो देता-ही-देता है, लेता नहीं—न भगवान्से, न संसारसे।

ऐसे प्रेमी भक्तोंके संकेतपर भगवान् नाचते हैं। इतना ही नहीं, वे भक्त भगवान्के भी भगवान् हो जाते हैं। (यद्यपि भक्त ऐसा नहीं चाहता, तथापि भगवान्की यह भक्तवत्सलता है, जो वे भक्तको अपना इष्ट मानते हैं।) संसारके भगवान् तो वे परम प्रभु हैं, किंतु भगवान्का भगवान् वह प्रेमी भक्त है, जो केवल भगवान्का है, अन्य किसीसे जिसका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे भक्तोंके प्रति भगवान् कहते हैं—

मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुट मणि।'

दृढ़ निश्चयकी महत्ता

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(गीता ९ । ३०)

श्रीभगवान् कहते हैं—'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझे निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिये; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर-के भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।'

यह 'एक निश्चय' बहुत ऊँची श्रेणीकी बात है। घोर पापी एवं अत्यन्त दुराचारी भी यदि यह निश्चय कर ले कि 'अब चाहे जो कुछ भी हो जाय, मुझे केवल भगवत्प्राप्ति ही करनी है' तो उसे अवर्णनीय लाभ हो सकता है। ऐसा निश्चय करनेमें अभ्यास या अधिक समयकी अपेक्षा भी नहीं है, यह तत्काल—अभी-अभी हो सकता है; 'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्—चाहे इसी आसनपर मेरा शरीर सूख जाय, किंतु मैं तो अपने लक्ष्यको प्राप्त करके ही रहूँगा ।' भगवान् बुद्धका यह अटल निश्चय ही उनकी सिद्धिका मूल कारण था ।

एक टिट्टिभीने समुद्रके किनारे अण्डे दिये। समुद्रमें ज्वार आया और उसके साथ उसके वे अण्डे भी बह गये। 'अरे! तुझ समुद्रकी यह मजाल!' उसने दृढ़ निश्चयके साथ कहा, मैं तुझे सुखा डालूँगी, अन्यथा मेरे अण्डे मुझे वापस लौटा दे।' समुद्रने कोई उत्तर नहीं दिया; अब तो टिट्टिभीके क्रोधका पार न रहा। अपने सुदृढ़ निश्चयके अनुसार उसने चोंचमें समुद्रका जल भर-भरकर किनारेसे दूर उड़ेलना और दूरसे वालू लाकर समुद्रमें भरना आरम्भ किया। उसके इस अद्भुत कर्मको देखकर किसीने उससे हँसते हुए पूछा—'अरी! तुम यह क्या कर रही हो?' टिट्टिभीने अपनी दुःखद कहानी सुनाकर दृढ़ताके साथ अपना कार्य पुनः प्रारम्भ कर दिया। इसपर प्रश्नकर्ताने उसे समझाया—'क्या कभी इस प्रकार समुद्र भी सुखाया जा सकता है?' टिट्टिभीने उत्तर दिया—

'..............................चञ्चुर्मे लोहसंनिभा।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति॥

(पञ्चतन्त्र १।३५८)

'अहो! रात और दिन कितने लंबे होते हैं, इधर मेरी चोंच भी कोई बहुत कमजोर नहीं! देखती हूँ, समुद्र कैसे नहीं सूखता है'—इस दृढ़ निश्चयमें अपरिमित शक्ति है। सांसारिक पदार्थोंसे लेकर परमात्मातककी प्राप्ति इस संकल्प-शक्तिसे सम्भव है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता ५।२५)

'जिनकी दुविधा नष्ट हो गयी है अर्थात् एक ही लक्ष्य स्थिर हो चुका है, वे संयतेन्द्रिय, पापरहित एवं सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले पुरुष शान्त ब्रह्मकी प्राप्ति करते हैं।' सचमुच दुविधा साधककी उन्नतिमें बहुत बड़ी बाधा है। एक ओर वह सोचता है कि थोड़ा सांसारिक सुखों-का उपभोग कर लूँ और दूसरी ओर उसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी भी इच्छा होती है। यह भी हो जाय और वह भी—इस दुविधामें फँसकर वह लक्ष्य-प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है— **दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम।'**

निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है—'**करिष्ये वा मरिष्ये**—करेंगे या मरेंगे।' 'यह कार्य तो करना ही है, चाहे कुछ भी हो जाय'—पारमार्थिक मार्गमें इस प्रकारके दृढ़ निश्चयकी बड़ी आवश्यकता है। निश्चयात्मिका बुद्धि होने-पर भगवान्‌की कृपा साधकपर बरस पड़ती है इतना ही नहीं, परमार्थमें महान् बाधक कहा जानेवाला संसार भी उसका सहायक हो जाता है।

'मैं भी आपकी गोदमें बैठूँगा', महाराज उत्तानपादकी गोदमें खेलते हुए अपने छोटे भाई उत्तमको देखकर बालक ध्रुव मचल उठा। राजाके बोलनेसे पहले ही छोटी रानी सुरुचिने ध्रुवको डाँटते हुए कहा—'अरे ! तुझे राजाकी गोदमें बैठनेका अधिकार कहाँ ? तूने तो उस अभागिनी सुनीतिके गर्भसे जन्म लिया है। यदि तूने पूर्वजन्ममें भगवान्-का भजन किया होता तो मेरी कोखसे जन्म लेता और मेरे

बेटेकी तरह तू भी राजाकी गोदमें खेलनेका अधिकारी बनता।' नन्हा ध्रुव अपनी विमाताके इन अपमानजनक शब्दोंको सुनकर दुःख एवं ग्लानिसे भर उठा। अपने पिता-की चुप्पी उसके हृदयको काट रही थी। वह रोता हुआ अपनी माँ (सुनीति) के पास गया और सारी बातें कह सुनायीं। माँने कहा, 'हाँ, वेटा ! तेरी विमाता सत्य ही कहती है। तुमने और मैंने—दोनोंने ही यदि पूर्वजन्ममें भजन किया होता तो आज हमें यह दुःख न देखना पड़ता।' उसकी भी आँखें भर आयीं।

'तब तो मैं भगवान्का भजन ही करूँगा।' यह कहकर नन्हा-सा ध्रुव घरसे निकल पड़ा। धन्य है वह जननी, जो अपनी संतानको भगवान्के भजनमें लगाती है। पाँच वर्षका बालक ध्रुव अपनी धुनमें चला जा रहा है—नंगे पाँव वनके कण्टकाकीर्ण मार्गोंपर। कुछ दूर जानेपर उसे देवर्षि नारद मिले। उन्होंने कहा—'बेटा ! तुम कहाँ जा रहे हो ?' तोतली बोलीमें उसने सारी घटना सुनाकर रोते हुए कहा—'अब भगवान्से मिलकर उनसे ही जो माँगना है, माँगूँगा।'

देवर्षिने कहा—'अरे ! तुम तो निरे बालक हो, वनमें सिंह, बाघ, भालू आदि हिंसक वन्य-जीव रहते हैं। लौट चलो ! मैं तुम्हारे पितासे कहकर तुम्हें आधा राज्य दिला दूँगा। साथ ही पिताका प्यार भी मिलेगा।'

पर ध्रुव तो अपने निश्चयपर अटल था। उसे तो जो कुछ भो लेना था, प्रभुसे ही लेना था। अतः बोला—'बाबा !

अब मैं लौटनेवाला नहीं।' बालकका दृढ़ संकल्प देखकर नारदजीने उसे 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रका उपदेश किया, साथ ही आशीर्वाद भी प्रदान किया।

सर्वविदित है कि ध्रुवके दृढ़ संकल्पसे प्रसन्न तथा आकृष्ट होकर छः मासमें ही भगवान्‌ने विष्णुरूपसे दर्शन देकर ध्रुवको कृतार्थ किया और साथ-ही-साथ उसे राज्य एवं अमरत्व भी प्रदान कर दिया।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—(१) द्वेष रखनेवाले, (२) स्नेह करनेवाले और (३) उदासीन रहनेवाले। ये तीनों ही प्रकारके मनुष्य दृढ़निश्चयी साधक-की सहायता करते हैं। ध्रुव वास्तवमें ध्रुव था। अतः द्वेष रखनेवाली विमाताने उसे भजनके लिये प्रेरित किया, स्नेह-मयी जननीने भी भगवद्भजनका ही समर्थन किया और उदासीन संत देवर्षि श्रीनारदने भी द्वादशाक्षर मन्त्र एवं आशीर्वाद प्रदान कर उसी मार्गपर बढ़नेमें सहायता की।

परमार्थ-पथपर चलनेमें दृढ़ निश्चय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही नहीं, नितान्त आवश्यक भी है। संसार-पथपर चलनेमें प्राप्तव्य भी मिथ्या और उद्देश्य भी वस्तुतः मिथ्या ही है, परंतु परमार्थ-पथपर चलनेवालोंका उद्देश्य सत् एवं प्रापणीय वस्तु भी सत् है।

इस प्रकारके दृढ़ निश्चयकी प्राप्तिमें बाधक हैं 'द्वन्द्व'। समझनेकी दृष्टिसे पाँच द्वन्द्व प्रमुख हैं—(१) स्तुति-निन्दा,

(२) मान-अपमान, (३) आढ्यता-दरिद्रता, (४) आरोग्यावस्था-रुग्णावस्था और (५) जीवन-मृत्यु ।

यदि इन पाँच प्रकारके द्वन्द्वोंमें समता हो जाय तो अन्य द्वन्द्वोंसे सुगमतापूर्वक छुटकारा हो सकता है। अतः साधकको पहलेसे ही यह दृढ़ विचार कर लेना चाहिये कि चाहे स्तुति हो या निन्दा, मान हो या अपमान, धन आये या चला जाय, स्वस्थ रहें या रुग्ण, जीवन रहे या मृत्यु आ जाय—हमें तो परमार्थ-पथपर चलकर भगवत्प्राप्ति ही करनी है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(भर्तृहरि-नीतिशतक ९४)

दुःख, निन्दा, बीमारी, दरिद्रता एवं अपमान—ये सभी एक साथ मिलकर आयें तो भी हमें विचलित नहीं कर सकते; क्योंकि हमने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि चाहे कुछ भी हो जाय, हमें तो भगवत्प्राप्ति ही करनी है।

यदि कोई कहे कि इस मार्गमें चलोगे तो तुम्हें अभी मरना होगा तो हमें स्वीकार है; क्योंकि अगणित जन्मोंमें हम जनमते-मरते ही तो आये हैं, फिर इसमें नयी बात क्या होगी? परंतु परमात्मतत्त्व-प्राप्तिके लिये मरना होगा, इससे बढ़कर जीवनकी और क्या सफलता होगी?

जो सिर साँटे हरि मिले तो पुनि लीजै दौर।
क्या जाने कुछ देरमें गाहक आवे और॥

परमात्माकी प्राप्तिके बिना ही यदि जीवन व्यर्थ बीत गया तो वह मृत्यु अत्यन्त भयानक एवं अनन्त मृत्युओंकी जन्मदात्री होगी। उसे ही वास्तविक हानि कहा गया है—
यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।
(बृहदा० ३।८।१०)

इस पथपर चलनेमें यदि दुःख, अपमान, दरिद्रता आदि प्राप्त हों तो समझना चाहिये कि रास्ता सही है, जैसे किसी स्थानको जाना है तो पथिकको यह बात पहलेसे बता दी जाती है कि मार्गमें अमुक-अमुक वृक्ष, पर्वत, पत्थर आदि आयेंगे। जब पथिकके सामने वे ही वृक्ष, पर्वत आदि आते रहते हैं तो वह उत्साहसे उसी पथपर बढ़ता चला जाता है; क्योंकि वे ही चिह्न उसे मिल रहे हैं, जो बताये गये थे। इसी प्रकार जब साधकके मार्गमें सुख-दुःख, मान-अपमान आदि आवें तब उसे समझना चाहिये कि मार्ग सही है और दुगुने उत्साहके साथ उस पथपर बढ़ना चाहिये। निश्चयकी दृढ़ता ही सफलताकी कुंजी है।

■

ज्ञानाग्निसे पापोंका नाश

जैसे दहकती हुई अग्नि सम्पूर्ण काष्ठोंको जलाकर राख (भस्ममय) कर देती है, ऐसे ही 'ज्ञानाग्नि' (ज्ञानरूपी अग्नि) अनन्त जन्मोंके शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर भस्म कर देती है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥
(गीता ४ । ३७)

'सर्व' शब्दका अभिप्राय है, पूर्ण रीतिसे । काष्ठके जल जानेपर राख और कोयला रह जाते हैं; परंतु कर्मोंके भस्म होनेपर उनका कुछ भी शेष नहीं रह जाता । यह ज्ञानका माहात्म्य है । इससे सिद्ध है कि महान् पापी भी उस तत्त्वको पा सकते हैं और उनके संपूर्ण पापोंका नाश हो जाता है। फिर साधकको उस तत्त्वकी प्राप्ति हो जाय, इसमें संदेह करना ही भूल है, अर्थात् उस तत्त्वकी प्राप्तिके विषयमें हमें कभी निराश नहीं होना चाहिये ।

इस सम्बन्धमें गीता एक विलक्षण बात कहती है कि 'केवल उस तत्त्वको प्राप्त करना है' (९ । ३०) ऐसा

पक्का निश्चय करते ही उसी क्षण मनुष्य धर्मात्मा बन जाता है और महान् शान्तिको प्राप्त हो जाता है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(गीता ९। ३१)

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है।'

संसारमें अधिक लोगोंकी धारणा यह रहती है कि हमें तो संसारके कार्य करने हैं। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हैं, जो कहते हैं कि हमें संसारके कामके साथ-साथ भजन भी करना है। उनके मनमें यह बात बसी रहती है कि घरका काम है, कुटुम्बका काम है, यह काम है, वह काम है। ऐसे व्यक्ति भजन-सत्संगको गौण मानते हैं और संसारका काम 'करना है ही'—आवश्यक मानते हैं। वास्तवमें संसारके कार्यको अनिवार्य मानना सर्वथा भ्रम, धोखा और विश्वासघात है। भगवान्ने मानव-शरीर दिया है कल्याण करनेके लिये और यह लगाया गया संग्रह एवं भोगोंमें। इस प्रकार भगवान्के साथ भी हम मानव (मनस्वी) होकर भी कैसा विश्वासघात कर रहे हैं!

नीतिमें आता है—

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं विहाय दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्॥

सौ काम छोड़कर मनुष्यको चाहिये कि भोजन कर ले। हजार काम छोड़कर स्नान कर लेना चाहिये और दान देने-

का सुअवसर आ जाय तो दूसरे लाखों काम बिगड़ते हों तो भी उनकी परवा न करके दानका कार्य प्रथम करे। अन्तमें कहा कि करोड़ों काम बिगड़ रहे हों, तो कोई बात नहीं, परंतु भगवान्‌का स्मरण पहले होना चाहिये। क्योंकि संसार-का काम सुधर गया तो भी बिगड़ गया और बिगड़ गया तो भी बिगड़ गया। कारण कि अन्तमें बिगड़नेवाला ही है और अपने साथ रहनेवाला भी नहीं है। भजनके समान दूसरा कोई काम नहीं है। शास्त्र और संतोंके वचन तो बहुत श्रेष्ठ होते हैं, परंतु नीतिशास्त्र भी कहते हैं कि सबसे पहले करने-का कार्य हरिभजन है। भजनके बाद समय मिलेगा तो दूसरे कामोंके विषयमें विचार करेंगे। तत्त्व-प्राप्तिका काम तो कर ही लेना है। जैसे भी, जब भी अर्थात् चाहे दुःख, संताप, जलन, तिरस्कार, अपमान, निन्दा हो और चाहे दरिद्रता, विपत्ति आती हो—ये सब स्वीकार हैं; परंतु उस तत्त्व-प्राप्ति-में देर न होनी चाहिये। यदि मनुष्य भगवान्‌के लिये पूरी शक्ति लगा देता है तो भगवान् मनुष्यके लिये पूरी शक्ति लगा देते हैं। फिर देरका क्या काम? क्योंकि भगवच्छक्ति अपार-अनन्त है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसको उसी प्रकार भजता हूँ।' फिर भी प्राणी पूरी शक्ति लगाते नहीं। जीव सभी प्रकारकी साधन-सामग्रीसे सम्पन्न है, तत्त्व-प्राप्ति-

का अधिकार भी पूरा है और उसकी प्राप्तिके लिये सभी सबल हैं, जब कि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त नियम नहीं है। क्योंकि संसारकी वस्तुएँ सबको पूरी नहीं मिली है। अगर किन्हींको कुछ मिली भी हैं तो वे थोड़े लोग हैं। किंतु भगवान् सबको प्राप्तव्य हैं—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

(गीता ४।१०)

'बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।' सब लोग लखपति, करोड़पति नहीं बन सकते। अरबपति तो बहुत थोड़े ही बनेंगे, किंतु आध्यात्मिक क्षेत्रमें सब-के-सब 'सर्वाधिपति' बन सकते हैं। कोई किंचिन्मात्र भी कम नहीं रहेगा। ब्रह्माजी, शुकदेवजी, शंकरजी, वसिष्ठजी, सनकादिक और नारदादिकोंको जो ज्ञान प्राप्त है, वही ज्ञान आज भी हमें प्राप्त हो सकता है।

ऐसा उत्तम अवसर पाकर भी हम उसे व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं, यही बड़ा धोखा है। हमारा यह कैसा अविवेक है? जो नर-तन पाकर प्रभुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील नहीं होते वे आत्मघाती, मन्दमति, महामूढ़ हैं।

ते कृतनिन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाय।

(मानस ७।४४)

इसलिये उस तत्त्वको प्राप्त करना है; और, करना है इच्छामात्रसे। चाहे जो हो, उसको प्राप्त करना ही है।

ऐसी पक्की इच्छामात्रकी आवश्यकता है। उस सत्‌तत्त्वकी प्राप्तिमें अन्य किसीको हेतु मानना कि गुरु नहीं मिलता, उपाय नहीं मिलता, भगवान्‌की कृपा नहीं मिलती—ये सब व्यर्थकी वातें हैं। अच्छे-से-अच्छे गुरु आज अभी तैयार हैं। भगवान्‌की कृपा तो सदैव अखण्ड-रूपसे है ही। प्रकृति सहायता देनेको तैयार है। आपका दृढ़ निश्चय होनेपर कोई वाधा देनेवाला नहीं है। उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये वैर रखनेवाले, प्रेम रखनेवाले और उदासीन रहनेवाले सब-के-सब सहायक होंगे। इनमें भी दुःख देनेवाले इस कार्यमें प्रथम श्रेणीके सहायक होंगे।

यदि हम सत्-पदार्थको प्राप्त नहीं कर सकते, तो असत्-को क्या प्राप्त करेंगे? क्योंकि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(गीता २। १६)

अभाव कहते हैं (संसारके पदार्थरूपको,) जो है ही नहीं, अतः उसमें मुख्य अभाव ही है। भाव (परमात्मा) अनुभवमें न आयें तो भी हैं और अनुभवमें आ जायँ तो भी हैं। केवल सत्‌के अनुभवकी जिज्ञासा एवं असत्‌में सुख-भोग-बुद्धिका त्याग करना है।

■

कर्मयोगसे कल्याण

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

(गीता ३ । १०-११)

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पको आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो । तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार कर्तव्यभावसे परस्पर एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे ।'

उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि प्रजाकी सृष्टि परम कल्याणको प्राप्त करनेके लिये ही की गयी । इस सृष्टिकी रचना मृत्युलोकमें दो प्रकारसे हुई । एक तो ऐसे जीवोंकी रचना हुई जो बुद्धिपूर्वक तो कुछ नहीं कर सकते, परंतु उनके द्वारा स्वाभाविक ही (बिना बुद्धि-विचारके) संसारका हित होता है; जैसे—पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नदी,

पहाड़, पृथ्वी आदि। इसे ही श्रीगोस्वामीजीने यों कहा है—

संत बिटप सरिता गिरि धरनी ।
परहित हेतु सबन्ह कै करनी ॥

(मानस ७ । १२४ । ३)

दूसरे—मनुष्योंकी रचना हुई, जिन्हें बुद्धि दी गयी कि जिससे वे सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य और उचित-अनुचित-को समझ सकें। इसलिये केवल मनुष्योंको यह कहा गया कि तुमलोग बुद्धिद्वारा अपना कर्तव्य जानकर दूसरोंको सुख पहुँचाओ, अपने कर्मोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करो और ऐसा करते हुए परम कल्याणको प्राप्त करो। इसपर गम्भीरता-पूर्वक विचार करनेसे यह बात समझमें आती है कि मनुष्य-को न तो सुख भोगनेके लिये बनाया गया है और न दुःख भोगनेके लिये ही तो केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही उत्पन्न किया गया है। भोगासक्त मनुष्योंके लिये भगवान् कहते हैं—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।

(गीता ३ । १३)

'जो पापीलोग केवल अपने लिये ही पकाते-खाते हैं, वे तो केवल पापका ही भक्षण करते हैं।' और जो मनुष्य अपने लिये न कर 'केवल यज्ञ-परम्पराकी (कर्तव्यकर्म मात्रकी) सुरक्षाके लिये अर्थात् सबका हित हो—ऐसी भावनासे कर्म करते हैं, उनके सम्पूर्ण कर्म (दोष) भस्म हो जाते हैं—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।

(गीता ४ । २३)

'यज्ञार्थ कर्मोंके अतिरिक्त अन्य कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य ही कर्मोंद्वारा बँधता है'—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

(गीता ३ । ९)

इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध हुआ कि अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है और दूसरोंकी केवल सेवाके लिये कर्म करनेसे नहीं बँधता, इतना ही नहीं, अपितु उसका पहलेवाला वन्धन भी छूट जाता है ।

हमें शरीर, प्राण, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि जो कुछ भी सामग्री मिली है, वह सब-की-सब केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही मिली है । इसमें अपनापन मान लेना भूल है । अतः दो वातें विशेषतासे मानती हैं कि यह सव सामग्री 'अपनी' नहीं है और 'अपने लिये' भी नहीं है । शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, घर, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि-में जो 'मेरापन दीखता है, उसका यही तात्पर्य है कि इनका अच्छा-से-अच्छा सदुपयोग दूसरोंकी सेवा करनेमें ही करनेका हमें अधिकार प्राप्त है, न कि इनमें ममता करके दुरुपयोग करने अथवा फल चाहनेका ।

श्रीमद्भगवद्गीता (२ । ४७)में भगवान् कहते हैं कि 'मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं, कभी नहीं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

इसका तात्पर्य यह है कि अभी हम जो नये कर्म करते

हैं, उनके फलोंपर तथा पहले किये गये कर्मोंके फलस्वरूप जो शरीर-इन्द्रियादि सामग्री मिली है, उसपर हमारा अधिकार नहीं है। उपर्युक्त आधे श्लोकके अन्तिम चरणमें 'फलेषु' (फलोंमें)का प्रयोग करनेका भाव निम्न प्रकारसे समझना चाहिये। कर्मफल चार प्रकारके होते हैं—दृष्ट, अदृष्ट, प्राप्त और अप्राप्त।

१—दृष्ट कर्मफल—जिस कर्मका फल तत्काल प्रत्यक्ष-रूपसे मिल जाता है, वह 'दृष्ट कर्मफल' है। जैसे—भोजन करते हैं तो तृप्ति हो जाती है, जल पीते हैं तो प्यास मिट जाती है। यदि दृष्ट कर्मफलपर अधिकार रखते हैं अथवा तृप्ति होने, प्यास मिटनेका सुखभोग करते हैं तो बँध जाते हैं।

२—अदृष्ट कर्मफल—वर्तमानमें किये गये कर्मोंका जो फल इहलोक अथवा आगे परलोकमें मिलेगा, वह 'अदृष्ट कर्मफल' है। जैसे हमने सुख-बुद्धि, स्वाद छोड़कर न्याययुक्त भोजन किया—केवल दूसरोंका हित करके अथवा उनकी प्रसन्नताके लिये तो उसका फल पुण्य होगा और अन्याययुक्त दूसरोंका अहित करके भोजन किया है तो उसका फल पाप होगा। यह पुण्य और पाप 'अदृष्ट कर्मफल' है। इस अदृष्ट कर्मफलका भोग चाहना ही इसके साथ सम्बन्ध जोड़ना है और भावी जन्मको निमन्त्रण देना है।

३—प्राप्त कर्मफल—पहले किये गये कर्मोंके फलस्वरूप आज हमें शरीर, धन-सम्पत्ति आदि जो सामग्री मिली हुई है, वह सब प्राप्त 'कर्मफल' है। इस प्राप्त सामग्रीपर अपना

अधिकार मानकर प्रसन्न होने वा इससे सुख लेनेकी आशा करने अथवा सुख लेनेसे हम बँध जाते हैं।

४—अप्राप्त कर्मफल—पहले किये गये कर्मोंके फल-स्वरूप हमें भविष्यमें जितनी आयु और सुख-दुःखरूप सामग्री मिलनेवाली है, वह 'अप्राप्त कर्मफल' होता है। यदि हम अप्राप्त कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं कि आगे हमें भोग, सुख मिलेगा तो हम अप्राप्त कर्मफलमें अभीसे बँध जाते हैं।

इस प्रकार सम्बन्ध जोड़नेपर दृष्ट तथा प्राप्त कर्मफल हमें वर्तमानमें बाँधते हैं और अदृष्ट तथा अप्राप्त कर्मफल भविष्यमें। इसलिये भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके ११वें श्लोकमें सब कर्मोंके फलका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—'**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।**' अतएव इन चारों प्रकारके कर्मफलोंसे अपना सम्बन्ध न जोड़ें, उनमें राग न करें तो फिर फँसेंगे ही नहीं।

विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि इन चारोंमें भी 'दृष्ट' और 'प्राप्त' कर्मफल हमें बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। इसलिये गीताके दूसरे अध्यायके चौवालीसवें श्लोकमें कहा है कि 'भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, अर्थात् जो पुरुष सुख-भोग और ऐश्वर्यसंग्रह—धन बटोरनेमें लगे हैं वस्तुतः वे 'हमें परमार्थ-पथपर ही चलना है' ऐसा निश्चय भी नहीं कर सकते। धनादि भोग-सामग्रीका संग्रह करना 'प्राप्त कर्मफल' और भोग भोगना 'दृष्ट कर्मफल' है। भोग और संग्रहमें

प्रसन्न होना ही कर्मफलपर अधिकार करना अर्थात् बँधना है।

कर्मफलके विवेचनको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (गीता २ । ४७) कर्मोंके फलका हेतु भी मत बन, अर्थात् इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जिन करणोंद्वारा हम कर्म करते हैं, उनको अपना माननेसे उनके द्वारा किये हुए कर्मोंके फलमें ममता हो ही जाती है। इस ममताके हो जानेसे कर्मोंके फलकी इच्छा न करनेपर भी हम फलके हेतु बन जाते हैं। जैसे—अमुक कार्य हमने किया, उसके फलका हम त्याग करते हैं, परंतु फलका त्याग करनेपर भी उसपर अधिकार तो हमारा ही है। इसप्रकार माननेसे हम फलके हेतु बन गये। अतः भूलकर भी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिको अपने न मानें; क्योंकि यह सब सामग्री किसीसे मिली है। मिले हुएको अपना मानकर उसपर अधिकार जमाना सर्वथा बेईमानी है। ये मन, बुद्धि आदि जिस प्रकृति (संसार)से मिले हैं, उसकी सेवामें लगा देना ईमानदारी है। हम जिसे अपना मानते हैं (जो मूलमें अपना नहीं है), उसीमें फँसते हैं—यह सबका अनुभव है। जिन-जिन व्यक्तियों, पदार्थोंको हमने अपना मान लिया, उन्हींकी हमें चिन्ता रहती है, दूसरेकी नहीं।

अपना माने बिना न रहा जाय तो समस्त सृष्टिको ही अपनी मानें। जैसे पृथ्वीका एक छोटा-सा कण पृथ्वीका ही अंश है, वैसे ही यह शरीर भी संसारका एक छोटा-सा कण

(अंश) है। यदि संसार तुम्हारा नहीं तो उसका अंश यह शरीर तुम्हारा कैसे ? और यदि शरीर तुम्हारा है तो सारा संसार भी तुम्हारा है। अतः चाहे तो शरीर और संसार दोनोंको ही अपना नहीं मानो अथवा दोनोंको ही अपना मानो, बात एक ही है। हमने भूलसे (विषमता करके) शरीरको तो अपना मान लिया, पर संसारको अपना नहीं माना। जो संसार और शरीरको एक धातुके मानकर सबकी (शक्ति, सामर्थ्य, योग्यतानुसार) सेवा करते हैं और सम-भावसे देखते हैं, उनका महत्त्व प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
>
> (गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

सबको अपना माननेसे स्वयंका व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहेगा। और केवल शरीरको अपना न माननेसे अहंकार न रहेगा। स्वार्थ और अहंकारसे छूटनेका सुगम उपाय है—कर्मयोगका सावधानीसे पालन, जिससे परम कल्याण निश्चित है।

■

मुक्ति

परमार्थ-पथपर चलनेवाले साधक चाहते हैं कि उन्हें मुक्ति मिल जाय। पर विचार्य है कि यह क्या वस्तु है ?

मुक्ति किसे कहते हैं ?

मुक्तिका शाब्दिक अर्थ है—छुटकारा। फलतः मुक्तिका साधक जानता है कि हम बँधे हैं। अब उसे विचार करना चाहिये कि हम किसमें बँधे हैं ? गम्भीरतापूर्वक सोचनेपर यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि हम अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंमें बँधे हैं। हमारे अनुकूल परिस्थिति आती है, तब हम सुखी होते हैं और प्रतिकूल परिस्थिति आती है तो हम दुःखी होते हैं। संसारके ये दो रूप ही उसके स्वरूप हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःखको समान समझकर युद्ध (उपलक्षणसे—सांसारिक सारे कार्य) करो तो तुमको पाप न लगेगा। अर्थात् बन्धन न होगा, तुम मुक्त हो

जाओगे।' वस्तुतः हमें सुख और दुःख—दोनोंसे छूटना है।

शङ्का हो सकती है—'सुखसे भी छूटना पड़ेगा ? राम ! राम !! सुख छूट जायगा ?' अरे, सुख वह छूटेगा, जिसके साथमें दुःख है—और जो दुःखोंका कारण है। ऐसे सुखको तो छोड़ना ही चाहिये। यदि दुःखसे मुक्त होना चाहते हैं तो दुःखयुक्त सुखसे भी मुक्त होना पड़ेगा। अगर आप इस दुःखयुक्त सुखको छोड़ेंगे तो दुःख आपको छोड़ेगा और यदि इस सुखको आप नहीं छोड़ेंगे तो उसके साथ लगा हुआ दुःख भी आपको नहीं छोड़ेगा। यह बन्धन बना ही रहेगा।

आप कह सकते हैं कि सुखका त्याग बड़ा कठिन है। हमारा तो उद्योग ही सुखके लिये है। संसारमें हम जो कुछ करते हैं, वह सब कामनापूर्ति या सुखके लिये ही करते हैं—

यद् यद् हि कुरुते किंचित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्।

(मनुस्मृति २।४)

हमारी मनचाही हो जाय, हमारी इच्छा पूरी हो जाय। दुःख मिट जाय और सुख हो जाय। इसीके लिये हम सब कुछ करते हैं। पर यह चाहते और करते बहुत वर्ष व्यतीत हो गये; किंतु अभीतक दुःख मिटा नहीं और शाश्वत सुख न मिला। यह प्रत्येक व्यक्तिका अनुभव है। विचार करें—इस जन्ममें बचपनसे लेकर अबतक हमने दुःख मिटाने और सुख प्राप्त करनेके लिये क्या-क्या नहीं किया ? अनेक प्रकार-के उद्योग किये, परंतु अभीतक दुःख मिटा नहीं और सुख

मिला नहीं। इससे सिद्ध होता है कि दुःख मिटानेका और सुख-प्राप्तिका उपाय कोई दूसरा है। आजतक देखा-देखी विद्याध्ययन, धनोपार्जन, अनेक प्रकारके व्यवसाय आदि जो उपाय किये गये, उनमेंसे कोई भी कारगर सिद्ध न हुआ। अतः अब कोई दूसरा रास्ता पकड़ना चाहिये।

वस्तुतः यह मानवजीवन संयोगजन्य सुख-दुःखसे ऊपर उठनेके लिये है। इन दोनों (सुख-दुःख)से श्रेष्ठ एक महान् सहज सुख है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(गीता ६। २१)

'वह अनन्त आनन्द इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य है। योगी उसे उस अवस्थामें अनुभव करता है और वहाँ स्थित हुआ भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है।' गीताके अनुसार यह आत्यन्तिक सुख है, इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है और वहाँ दुःखका लेश भी नहीं है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(गीता ६। २३)

अर्थात् 'वहाँ दुःखोंके संयोगका ही वियोग है। 'दुःखका स्पर्श भी नहीं हो सकता, ऐसा महान् सुख है वह।' हम उसे सुखकी प्राप्ति कहें या सांसारिक सुख-दुःखसे मुक्ति। इस

महान् सुखकी प्राप्तिमें शर्त यही है कि संयोगजन्य सांसारिक सुख छोड़ना ही पड़ेगा। प्रश्न है, हम सुख छोड़ें कैसे ?

इस (दुःखमिश्रित सुख)के छोड़नेका सरलतम उपाय है—जिनसे आपका सम्बन्ध है, उन्हें तथा अभावग्रस्तोंको सुख दें। सुख देनेके दो प्रकार हैं—(१) सुख देनेमें जो सुख होता है, उस सुखको भी न लेना; अर्थात् उस सुखको भोगकर प्रसन्न न होना और (२) सुखके देनेमें जो दुःख (परिश्रम) हो, उसे स्वीकार कर लेना। सुख देकर जो सुख लेते हैं, वह सुख बाँधनेवाला हो जायगा; क्योंकि सुख देकर सुख ले लिया, हिसाब पूरा हुआ। किंतु सुख देकर वापस सुख नहीं लेते हैं तो हमारे दुःखोंका मूल कट जाता है। तात्पर्य यह कि सुखका त्याग कर दें अथवा सुख देकर सुख-भोग न करें—ये दोनों ही बातें मुक्ति देनेवाली हैं।

स्वयं अपने-आप भी आया हुआ सुख न लें अर्थात् अनुकूल परिस्थितिसे सुख मिलता है, उसका त्याग कर दें; उस सुखके लिये उद्योग न करें—इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि जीविकाके लिये उद्योग ही न करें, प्रयत्न न करें। प्रत्युत जिस-जिस वर्णाश्रममें जो जहाँ हैं, अपने कर्तव्य-का तत्परतापूर्वक पालन करें—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

(गीता ३ । १९)

कर्तव्य कर्म निरन्तर करते रहना चाहिये, परंतु सुख

लेनेके लिये नहीं, सुख देनेके लिये। यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि संयोगजन्य, उत्पत्ति-विनाशवाला सुख तो लेना ही नहीं है; क्योंकि हम तो महान् सुखके ग्राहक हैं। जो उत्पत्तिवाला सुख है, उसका अन्त तो विनाशजन्य दुःखमें होगा। जिस सुखसे पहले दुःख है, उसके अन्तमें भी दुःख ही होगा। एक ही (पूर्वोक्त) विलक्षण सहज सुख है, जिसका अन्त कभी होता ही नहीं। किंतु हमें वह सुख मिलता तभी है, जब लौकिक-पारलौकिक सुखसे हम ऊपर उठ जायँ।

शङ्का हो सकती है कि हम सुख लेनेकी इच्छा तो नहीं करते, पर कोई दूसरा अपनी इच्छासे सुख दे देता है तो क्या करें?

ऐसी अवस्थामें सावधान रहें कि हमारा लक्ष्य तो सबको सुख पहुंचाना है, सुख लेना नहीं है। अतः दूसरा कोई हमें सुख पहुंचाये तो उसमें प्रसन्न नहीं होना है; क्योंकि किसीके पहुँचाये हुए सुखमें प्रसन्न होंगे तो फिर दुःख भी भोगना होगा। अतः दुःख मिटाना है तो ऐहिक सुख भी छोड़ना होगा। यदि हम दुःखसे मुक्ति चाहते हैं तो सुखसे पहले ही मुक्ति लेनी होगी। तभी हम सुख और दुःख दोनोंसे ऊपर उठकर उस विलक्षण महान् सुखको प्राप्त कर सकते हैं।

आप कह सकते हैं कि हमें ऐसा सहज सुख दीखता तो

नहीं। यह सहज सुख तभी दीखेगा, जब आप सुख और दुःख दोनोंसे ऊपर उठ जायँगे। संयोगजन्य सुख-दुःखसे ऊपर उठनेपर वह विलक्षण सुख मिलेगा—इसका क्या प्रमाण है? सुनिये—निद्रामें संयोगमात्रका वियोग हो जाता है। उस समय ताजगी आती है—यह सभीका अनुभव है। यह बात स्वाभाविक ही है कि आठ पहर भी प्राणी इस वियोगजन्य सुखके बिना रह नहीं सकता। संयोगजन्य, सम्बन्धजन्य सुखके बिना हम रह सकते हैं। अन्न, जलादि जो हमारे जीवन-निर्वाहके लिये आवश्यक हैं, उनके बिना हम कई दिन रह सकते हैं, परंतु वियोगजन्य सुख—निद्रा (जो नींदमें पराधीनतासे मिलती है, उसके) बिना आठ पहर भी नहीं रह सकते। जाग्रत और स्वप्नमें तो संयोगजन्य सुख-दुःख होते रहते हैं, किंतु सभीका अनुभव है कि गाढ़ सुषुप्तिमें दुःख नहीं होते, अतः उस समय भी एक विलक्षण सुख मिलता है। किंतु यह सुख भी है पराधीनतायुक्त ही; क्योंकि सुषुप्तिके नित्य न रहनेसे सुख भी हमेशा नहीं रहता। सुषुप्तिका तात्पर्य गहरी (गाढ़) निद्रासे है। गहरी नींदमें कोई वस्तु, व्यक्ति याद नहीं रहता अर्थात् हम जाग्रत्-स्वप्न-की सामग्रीको भूल जाते हैं। बेहोशी रहनेपर भी एक प्रकार-का सुख होता है और जगनेपर हम कहते हैं—'आज बड़े सुखसे सोये, कुछ भी याद न रहा।' यदि जाग्रत् और स्वप्नकी सामग्रियोंसे सावधानीपूर्वक, विचारपूर्वक अपना सम्बन्ध त्याग दें तो वह सुख महान् एवं विलक्षण होगा।

सुषुप्तिके सुखकी अपेक्षा नित्य, स्वतन्त्र, सहज सुख होगा। उसे ही आत्यन्तिक सुख कहते हैं। 'बुद्धिग्राह्यम्' कहनेका तात्पर्य—सुषुप्तिका सुख बुद्धिग्राह्य नहीं है, क्योंकि बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है, जब कि आत्यन्तिक सुखमें बुद्धि जाग्रत रहती है।

समाधिजन्य भी सुख होता है, किंतु समाधिसे व्युत्थान होनेपर वह सुख नहीं रहता। आत्यन्तिक सुखका कभी व्युत्थान नहीं होता। वह सहज, स्वतः, निरन्तर और समाधिसे भी अतीत स्वरूपभूत सुख है। इस सुखकी प्राप्तिके लिये कुछ कीमत चुकानी पड़ेगी। कीमत है—हमें संयोग-जन्य सुख नहीं लेना है, यह इतना पक्का विचार कर लेना।

इस दृढ़ विचारको गीतामें 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहा गया है। इसकी महिमा अपार है। हम विचार करते हैं तो गीतामें पाते हैं कि किसी भी साधनकी इतनी महिमा नहीं है—जितनी व्यवसायात्मिका बुद्धिकी है। शास्त्रोंमें नाम-जप, गङ्गा-स्नान, एकादशी आदि व्रत, दान-पुण्य आदि-आदि साधनोंकी बहुत महिमा है, परंतु व्यवसायात्मिका बुद्धिकी महिमा उससे भी अधिक है। व्यवसायात्मिका बुद्धिका तात्पर्य—एक पक्का निश्चय कर लेना कि हमें संसारका सुख तो लेना है ही नहीं। यह निश्चय सब साधनोंका मूल है, फिर नाम-जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रतादि सम्पूर्ण साधन स्वतः स्वाभाविक होने लगेंगे। किसी कारणसे उपर्युक्त साधन न हो पायें तो भी कोई हानि नहीं। इस

(पक्का निश्चय) साधनकी सिद्धि जब चाहे, तभी हो सकती है; अभी हो सकती है। यदि आप यही समझें कि इतना शीघ्र कैसे हो सकती है? तो कुछ समय लगाकर सिद्धि कर लें। वस्तुतः संयोगजन्य, स्थितिजन्य वह सुख हमें नहीं लेना है, नहीं लेना है। इस बातपर अटल हो जायँ तो मानो आपने मनुष्य-जीवनका बहुत बड़ा काम सिद्ध कर लिया। यह अभ्यासजन्य साधन नहीं है। अभ्यासमें तो नयी स्थिति बनायी जाती है, किंतु त्यागमें तो छोड़ा और तत्काल छूट गया; मुक्ति प्राप्त कर ली।

संयोगजन्य, सम्बन्धजन्य सुखकी आसक्ति सुगमतासे छूट सके, इसके लिये एक बड़ी सुन्दर युक्ति है। आपको जब भी और जो कोई भी व्यक्ति मिले, आपको उसे सुख देना है, उसका आदर-सत्कार करना है, उसे सुविधा देनी है। कोई भी दुःखी मिल जाय तो समझें कि हमें बहुत बड़ा ग्राहक मिल गया। उसे सुख देकर उसका दुःख ले लें। इस प्रकार सुख देनेकी प्रवृत्तिसे आपके सुख लेनेकी इच्छा सुग-सुगमतासे छूट जायगी। यह एक बड़ा साधन सम्पन्न हो जायगा।

ज्ञानयोगमें भीतरसे सुखका त्याग करना पड़ता है और भक्तियोगमें भगवान्‌को सुख पहुँचाया जाता है; जब कि कर्मयोगमें भाव, क्रिया, पदार्थोंसे प्राणिमात्रको सुख पहुँचाया जाता है। अतः दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपने सुखका त्याग सुगमतासे हो जाता है।

हमारी संस्कृति भी यही कहती है कि दूसरोंको सुख देनेमें अपने सुखासक्तिका त्याग करना होता है—अतः माता-पिताकी सेवा करो, आचार्यकी सेवा करो, अतिथिकी सेवा करो, पतिकी सेवा करो, स्त्री-पुत्रादिका पालन करो—किंतु सावधान, अपनी सुख-सुविधा सर्वथा छोड़कर कर्तव्य-बुद्धिसे करो। इससे महान् सुख मिलेगा। परंतु हमारी प्रवृत्ति ऐसी नहीं है। हम सुख देते हैं तो लेना भी चाहते हैं, लेते भी हैं—यह लेन-देनका व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे त्याग नहीं होता है और त्याग बिना शान्ति नहीं मिलती।

सुखकी इच्छा, सुखका भोग और सुखकी आशाका त्याग कर देनेसे हम दुःखोंसे सदाके लिये छूट जाते हैं। इसीको मुक्ति कहते हैं। हमारी भावना तो केवल यह हो कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

■

अवस्थातीत तत्त्व

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २ । १६)

('हे अर्जुन !) असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्का अभाव नहीं है । इस प्रकार दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

समस्त सांसारिक पदार्थ—वस्तु, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तः-करण, क्रिया, भाव और परिस्थिति आदि-अन्तवाले एवं परिवर्तनशील हैं, किंतु इनका ज्ञाता एक ऐसा तत्त्व है, जो अनादि, अनन्त एवं परिवर्तनरहित है ।

शरीरका निर्माण प्रकृतिसे हुआ है । इसके तीन भेद माने गये हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण । चमड़ा, चर्बी, मांस, हड्डी, रुधिर एवं मल-मूत्रका संघातरूप पिण्ड—स्थूल-शरीर और पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि—इनका समुदाय सूक्ष्म-शरीर कहलाता है तथा अविद्या (स्वभाव) कारण-शरीरका स्वरूप है । स्थूल-शरीरकी

अवस्था है जाग्रत्, सूक्ष्म-शरीरकी स्वप्न तथा कारण-शरीर-की निद्रा, मूर्च्छा एवं समाधि।

ये सभी अवस्थाएँ तो जानी जा सकती हैं, परंतु इन सबका ज्ञाता बुद्धिसे परे है। वह स्वयं ही अपनेको जानता है, अर्थात् 'चेतन' तत्त्व है। वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा एवं समाधि—सभी अवस्थाओंमें अनुस्यूत होते हुए भी उनसे निर्लिप्त होनेके कारण किसीसे भी सम्पृक्त नहीं रहता अर्थात् अपने-आपमें ही स्थित है। वास्तवमें ये सभी अवस्थाएँ उसीके आश्रित, उसीके अन्तर्गत रहती हैं, अर्थात् इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है: ये प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, परंतु वह (तत्त्व) उसी प्रकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है, जैसे आकाशसे उत्पन्न होनेवाले बादल उसीमें स्थित रहते हैं और गरज-बरसकर अन्तमें उसीमें विलीन हो जाते हैं, किंतु आकाश ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त बना रहता है।

इन पाँचों अवस्थाओंको प्रकाशित करनेवाला वह तत्त्व एक 'सामान्य-प्रकाश' (ज्ञान) है, किंतु वह बुद्धिका ज्ञान नहीं है। उदाहरणार्थ—गाढ़ सुषुप्ति एवं मूर्च्छासे जागने-पर मनुष्य कहता है—'इतनी गहरी नींद आयी कि मुझे कुछ भी सुध नहीं थी', इसमें 'मुझे कुछ भी सुध नहीं थी'—यह वाक्यांश संसारके अभाव एवं सर्वप्रकाशक समष्टि तत्त्व-के भावकी ओर संकेत करता है; क्योंकि सुषुप्ति एवं मूर्च्छा-में बुद्धि अपने कारण अविद्यामें लीन हो जाती है। वह सर्वप्रकाशक तत्त्व स्वयंप्रकाश एवं चिद्घन है। वास्तवमें

उसी चेतनसे बुद्धि भी प्रकाशित होती है। समाधि अवस्थामें बुद्धि जाग्रत् तो रहती है, परंतु स्वरूपमें तदाकार हो जानेके कारण अक्रिय बनी रहती है, अर्थात् इसकी अवगमनरूप क्रियाका लोप हो जाता है।

जैसे नेत्रोंद्वारा अन्धकार और प्रकाश—दोनोंका भान होता है, उसी प्रकार बुद्धिके अभाव और भाव—दोनोंको वह सामान्य-प्रकाश (ज्ञानस्वरूप) प्रकाशित करता है। इसी सामान्य-प्रकाश (आत्मतत्त्व)के साथ समस्त जीवोंकी स्वरूपसे स्वतःसिद्ध एकता है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५ । ७), परंतु इसे भूलकर वे उन स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरों एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओंके साथ अपनी एकता मान लेते हैं, जिनका परिवर्तनशील होनेके कारण सदा एकरस रहना सम्भव नहीं। इसी कारण इन्हें स्थिर रखनेके असफल प्रयासमें लगा हुआ अविनाशी एवं परिवर्तनरहित जीवात्मा महान् क्लेश भोगता रहता है। ये अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, परंतु इनका प्रकाशक (आत्मतत्त्व) ज्यों-का-त्यों ही रहता है। शरीर, अन्तःकरण, अवस्था, क्रिया एवं पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण वह आत्मतत्त्व 'प्रकाशक' कहलाता है। वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं है; क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों-की ओरसे दृष्टि हटते ही केवल शुद्ध सच्चिदानन्दघन तत्त्व ही रह जाता है। फिर तो वहाँ न प्रकाशक है और न प्रकाश्य ही।

वह (आत्मतत्त्व) तो अवस्थातीत है। उसमें जो अपनी अटल स्थिति है, उसका अनुभव कर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें अपनी मानी हुई स्थितिका परित्याग कर देना चाहिये अर्थात् न इन्हें अपना स्वरूप मानना है और न इनमें ममता ही करनी है; क्योंकि जबतक जीव इन अवस्थाओं एवं इनके द्वारा प्रकाशित पदार्थोंमें महत्त्वबुद्धि रखता है, तबतक वह (स्वरूपतः) इनसे अलग होते हुए भी पृथक्ताका अनुभव नहीं कर पाता। (अपना महत्त्व जान लेनेपर ही वह इनसे विमुक्त हो सकता है।)

इन अवस्थाओंको महत्त्व देना क्या है ?—इनसे सुख प्राप्त करनेकी इच्छा रखना। यथा—जाग्रदवस्थामें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंसे तथा स्वप्नावस्थामें मानसिक रूपसे इन्हीं पाँचों विषयोंकी प्राप्तिसे सुखी और अप्राप्तिसे दुःखी होना, सुषुप्तिमें (यद्यपि अन्तःकरणकी वृत्तियोंके विलीन हो जानेके कारण जीवमें इन सब विषयों-को भोगनेकी क्षमता नहीं रह जाती, तथापि) विश्रामजनित सुखका अनुभव करना, समाधि-अवस्थामें भी स्वरूपमें तल्लीन हुई जाग्रत-बुद्धिके माध्यमसे स्वरूपमें स्थितिजनित सुख प्राप्तकर प्रसन्न होना। इस प्रकार इन अवस्थाओंसे उद्भूत सुखका उपभोग करना एवं वह अधिकाधिक उपलब्ध होता रहे—ऐसी आशा रखना ही जीवके बन्धनका मुख्य कारण है। यदि वह इन अवस्थाओं एवं पदार्थोंकी सुखा-सक्तिका सर्वथा त्याग कर दे तो उसे तत्काल शान्तिका

अनुभव हो सकता है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'
(गीता १२ । १२)

जाग्रदवस्थामें सांसारिक पदार्थोंकी अपेक्षा न रखनेसे स्वप्नावस्थाका प्रत्येक चिन्तन स्वतः ही भगवत्सम्बन्धी होने लगता है; क्योंकि सांसारिक पदार्थोंमें राग ही विषयचिन्तन-का मुख्य कारण है। इस भगवच्चिन्तनजनित सुखका उप-भोग न करके उससे भी उपराम ही रहना चाहिये। गाढ़ सुषुप्तिद्वारा थकावट मिटनेके फलस्वरूप विश्रामसुखसे एवं समाधि-अवस्थामें स्वरूपमें तदाकार हुई बुद्धिके माध्यमसे प्राप्त हुए सात्त्विक सुखसे भी उपराम होनेपर ही उपर्युक्त अवस्थाओंसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर तत्त्वमें स्थिति हो सकती है।

हम सबकी उस तत्त्वमें स्वतः स्थिति होते हुए भी उसका अनुभव न होनेका कारण है—क्रिया, चिन्तन एवं स्थिरतासे उत्पन्न होनेवाले सुखकी इच्छा। यह सुखासक्ति ही बन्धन है—मोह है। अनादिकालसे हमारी जो उस तत्त्व-में स्वतः स्वाभाविक स्थिति है, उसका अनुभव होना 'ज्ञान' है। ज्ञानसे मोहका नाश हो जाता है—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
(गीता ४। ३५)

पदार्थाभावकी अपेक्षा पदार्थ-स्थिति, चञ्चलताकी अपेक्षा स्थिरता एवं परिश्रमकी अपेक्षा विश्रामका अस्तित्व है। समाधिजनित शान्ति भी अशान्तिकी अपेक्षासे ही कही

जाती है, परंतु (परमात्म-) तत्त्व किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं रखता, प्रत्युत वह सर्वदा निरपेक्ष है। उस तत्त्वतक इन अवस्थाओंकी पहुँच ही नहीं है। यद्यपि उसे कुछ लोग तुरीयावस्था भी कह देते हैं, तथापि वास्तवमें वह अवस्था नहीं है। अवस्थामें स्थिति की जाती है, किंतु इस तत्त्वमें स्थिति करनी नहीं पड़ती; क्योंकि इसमें सबकी स्वाभाविक स्थिति सदासे ही है। वह (परमात्म-) तत्त्व सबको स्वतः प्राप्त है, केवल प्रकृतिजन्य शरीर, अवस्था, परिस्थिति आदिमें अपनी मानी हुई स्थितिको अस्वीकार मात्र कर देना है।

■

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं

प्रायः सामान्य साधकोंकी ऐसी धारणा रहती है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन कार्य है; पर वस्तुतः वह कठिन नहीं है, हमने अपनी भ्रान्त धारणाके कारण ही उसे कठिन और अगम मान रखा है। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी इस कठिनता-की ओर संकेत किया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

पर विचारपूर्वक देखें तो इस श्लोकका तात्पर्य परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनाई बतानेमें न होकर इस मार्गमें चलनेवालों (प्रवृत्त होनेवालों)की दुर्लभता बतानेमें है।

मनुष्य-देह मिलनेपर भी अधिकांश लोग इस मार्गपर पाँव नहीं रखते, अपने उद्धारका ऐसा स्वर्ण-अवसर मिलनेपर भी वे भोगोंमें आसक्त रहते हैं। यह नहीं सोचते कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उसका परिणाम क्या होगा ? वे अंधाधुंध एक-दूसरेका अनुकरण करते हुए दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त श्लोकद्वारा भगवान्‌ने परमात्मतत्त्व-प्राप्तिके लिये सच्ची लगनसे प्रयास करनेवाले मनुष्योंकी कमी बतलायी है न कि उस तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता। हमें मनुष्य-देह प्रदान करनेका उद्‌देश्य ही यही है कि हम अच्छा सङ्ग प्राप्त कर सद्विचारोंका संग्रह करें, जिनसे जन्म-जन्मान्तरके कुसंस्कार नष्ट होकर हमें सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय।

भगवान् तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें सुगमता बतलाते हुए कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमका स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

ऐसी सुलभता होते हुए भी परमात्मतत्त्वको जाननेवाले बहुत कम हैं, इसका कारण क्या है ?

इसका मुख्य कारण है कि अधिकांश मनुष्य तात्कालिक (प्रत्यक्ष दीखनेवाले) सुख-भोग और पदार्थसंग्रहमें लगे रहते हैं, वे प्रत्यक्ष दिखायी न देनेवाले एवं इन्द्रियातीत ईश्वरके सम्मुख नहीं होते। यदि साधककी प्रवृत्ति परमात्म-तत्त्वकी ओर होगी तो चाहे वह दुराचारी-से भी दुराचारी क्यों न हो, उसे निश्चय ही अपने लक्ष्यकी प्राप्ति शीघ्र हो जायगी। भगवान्‌के वचन हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

इसी प्रकार रामचरितमानसमें भी कहा गया है—

जौं नर होइ चराचर द्रोही।
आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
(५। ४७। १-२)

तात्पर्य यह कि साधक दृढ़ निश्चय करके अपनी प्रवृत्ति-को परमात्मतत्त्वकी ओर मोड़ ले तो उसके लिये परमात्मा-की प्राप्ति कठिन नहीं, अत्यन्त सुलभ है। परमात्मतत्त्वकी

ओर प्रवृत्ति होते ही—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

(गीता ९ । ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसी प्रकार ज्ञान-मार्गमें प्रवृत्त होनेवाला पापी-से-पापी साधक भी उसी परम शान्तिको प्राप्त करता है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

(गीता ४ । ३६)

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि पापी तो ज्ञानका अधिकारी भी नहीं हो सकता, फिर उसे ज्ञानरूपी नौका मिलना तो अत्यन्त कठिन ही होगा ? परंतु भगवान्‌का अभिप्राय यह है कि पापी-से-पापी जब परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त व्याकुल होता है तो मेरी सहज कृपासे उसका निश्चय ही कल्याण हो जाता है।

अब इस बातपर विचार करें कि परमात्मतत्त्व जब पापियों और धर्मात्माओं—सभीके लिये सुगम है, उसके सभी समानरूपसे अधिकारी हैं, तब फिर उसकी प्राप्तिमें कठिनताका आभास क्यों होता है ? विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह कठिनता हमने ही मान रखी है। वास्तवमें कठिनता है नहीं, उसका आभासमात्र होता है। सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और उनमें सुख-बुद्धिका

त्याग न कर पाना ही परमात्मतत्त्व-प्राप्तिकी उत्कण्ठामें सबसे बड़ी बाधा है। इस विषयमें एक मार्मिक बात यह समझनी चाहिये कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें पूर्वजन्मार्जित पाप उतने बाधक नहीं होते, जितनी कि वर्तमान जन्मकी धर्म-विरुद्ध प्रवृत्तियाँ। मनुष्यका ऐसा स्वभाव बन गया है कि वह संसारकी नश्वर वस्तुओं एवं क्रियाओंसे सुख लेना चाहता है। इसी कारण उसकी परमात्मतत्त्वकी ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती, फिर उसमें अनन्यता तो होगी ही कैसे ?

जो परिस्थिति आजतक थी, वह अब नहीं रही; इच्छित-अनिच्छित वस्तुएँ भी मिलीं, परंतु टिकी नहीं। ऐसा सर्वमान्य अनुभव होते हुए भी मनुष्य मनोऽनुकूल सांसारिक परिस्थितियों और पदार्थोंके पानेकी इच्छा नहीं छोड़ता। प्रथमतः तो ऐसे मनोऽनुकूल सभी पदार्थ मिलते नहीं, मिलते भी हैं तो ठहरते नहीं। यदि ये सांसारिक सुख और पदार्थ टिकते भी हैं तो मनुष्य स्वयं नहीं रहता। इस अकाट्य सिद्धान्तको कोई बदल नहीं सकता, फिर भी मनुष्य अपने इस अनुभवकी उपेक्षा करनेके कारण सांसारिक अभिलाषाओंको त्यागता नहीं, वरन् और अधिक तेजीसे उनकी ओर दौड़ता है।

जो कुछ संसारमें प्राप्त हुआ है, उससे हमें संतोष होता नहीं और ये सांसारिक सामग्रियाँ अधिक-से-अधिक प्राप्त हो जायँ, ऐसी इच्छा बराबर बनी रहती है। इससे यह पता चलता है कि सांसारिक पदार्थोंसे सदाके लिये

तृप्ति नहीं हो सकती, आजतक किसीकी तृप्ति हुई भी नहीं। शास्त्रोंमें कहा गया है—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

(श्रीमद्भा० ९।१९।१३)

'लोकमें जितने धन, धान्य सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब मिलकर भी विषयग्रस्त पुरुषके चित्तको संतुष्ट नहीं कर सकते।'

जब सांसारिक पदार्थोंसे आजतक किसीको पूर्णता नहीं मिली। न मिल सकती है और न कभी मिल ही सकेगी, तब हमें उनसे पूर्णता कैसे प्राप्त हो सकती है?

यह जीव चेतन (परमात्मा)का अंश है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७।११६।१)

चेतनकी भूख जड, नाशवान् संसार और उसके पदार्थों या सुख-संग्रहसे कैसे मिटेगी? यदि परमात्माका अंश जड वस्तुओंकी इच्छा करेगा तो इसका अभाव बढ़ता ही चला जायगा और सांसारिक अभावोंकी पूर्तिसे यह अभाव कभी कम न होगा। जहाँ जडतासे सम्बन्ध होगा, वहाँ दरिद्रता बढ़ती ही चली जायगी। अंश (जीव)को जबतक अंशी (ईश्वर)की प्राप्ति नहीं होगी, तबतक समस्त सांसारिक वैभव प्राप्त हो जानेपर भी उसे शान्ति नहीं मिल सकेगी। जडतासे सम्बन्ध जोड़ना अशान्तिको गले लगाना है, यह

निर्विवाद सत्य है। यदि साधककी विवेक-बुद्धिमें यह बात बैठ जाय कि मैं चेतनका अंश अर्थात् चेतन हूँ और सांसारिक पदार्थ जड प्रकृतिके कार्य होनेके कारण जड हैं, इनसे मेरी तृप्ति कदापि नहीं हो सकती तो उसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति अत्यधिक सुगमतासे हो सकती है; क्योंकि वे (परमात्मा) नित्य प्राप्त हैं, कभी किसीसे अलग हुए ही नहीं।

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५।४३।१)

भगवान्‌के सम्मुख होते ही करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। यह कैसी विलक्षण बात है! परमात्मतत्त्वकी ओर उन्मुख होते ही सारी बाधाएँ अपने-आप दूर हो जाती हैं।

कुछ लोगोंकी यह भ्रान्त धारणा है कि परमात्म-प्राप्तिके साधनमें लगनेसे संसारके सगे-सम्बन्धी, मित्र, बान्धव विपरीत हो जाते हैं। सत्य तो यह है कि जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌की सेवा-भक्तिमें लग जाता है, उसे संसारी लोगोंसे ही नहीं, प्रत्युत उदासीन, वैरी, मित्र, कुटुम्बी और यहाँतक कि चोर डाकुओंसे भी सहायता मिलती है। मार्मिक बात यह है कि भगवान्‌की ओर प्रवृत्ति होनेपर साधक सबमें परमात्माका दर्शन करता है, कहीं भी उसकी आसक्ति नहीं होती, वह निर्वैर हो जाता है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध॥
(मानस ७। ११२ (ख))

जो अनुकूलता पहले इच्छा होनेपर भी नहीं मिलती थी, वही इच्छा त्यागते ही पीछे-पीछे दौड़ने लगती है। जिसे कुछ भी लेनेकी इच्छा नहीं होती, उसे लोग देते हैं और जो माँगता है, उसे कोई देता नहीं। लोकमें यह बात तो सबके देखनेमें आती ही है।

जो मायाको नहीं अपनाते, माया उनकी सेवा करती है और जो मायाके पीछे लगे रहते हैं, उनके हाथ वह आती नहीं। उलटा वे अपना ही नाश कर लेते हैं—

जो विषया संतन तजी ताही नर लिपटाय।
ज्यों नर डाले वमन को स्वान स्वाद सों खाय॥

त्याज्य दुर्गन्धित वमनके लिये जिस प्रकार कुत्ते आपसमें लड़ते और छीना-झपटी करते हैं, उसी प्रकार परमात्मतत्त्वसे विमुख हुए संसारी लोग घृणास्पद एवं दुःखदायी पदार्थोंके लिये परस्पर ईर्ष्या-द्वेष आदिमें फँसकर दुःखी होते रहते हैं। यदि सांसारिक पदार्थोंमें भोग और संग्रह-बुद्धिका त्याग कर दिया जाय तो सब प्रकारकी अनुकूलता होनेपर भी वह परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक नहीं बन सकेगी।

जैसा कि ऊपर कहा गया है—सांसारिक पदार्थोंमें और उनकी कामनामें भी स्थायित्व नहीं है तो फिर उनसे नित्य, शुद्ध, शाश्वत और पूर्ण सुखकी प्राप्ति

कैसे सम्भव हो सकती है? परमात्मा तो सर्वत्र हैं, सब समय हैं, सबमें हैं, सब देशमें हैं, फिर उनकी प्राप्तिमें कठिनता क्या—

> घट-घट व्यापक रामजी अति नेड़ा नहीं दूर।
> भजे कपट तज चित्तसे सन्मुख होइ जरूर॥

वास्तवमें इस निकटताको दूरीमें, सुगमताको कठिनतामें बदला है सांसारिक इच्छाओंने, भोगोंने, विभिन्न कामनाओंने। इनका त्याग पूरी सचाईसे होना चाहिये, फिर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कोई कठिनाई नहीं रहती।

■

कहीं भी रहें, किसी भी स्थितिमें रहें, सबका हित करनेका स्वभाव बना लें। सबका हित चाहनेवाला भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव
सर्वभूतहिते रताः ॥'
(गीता १२।४)

—इसी पुस्तकसे